आस्तिकता की उपयोगिता और आवश्यकता

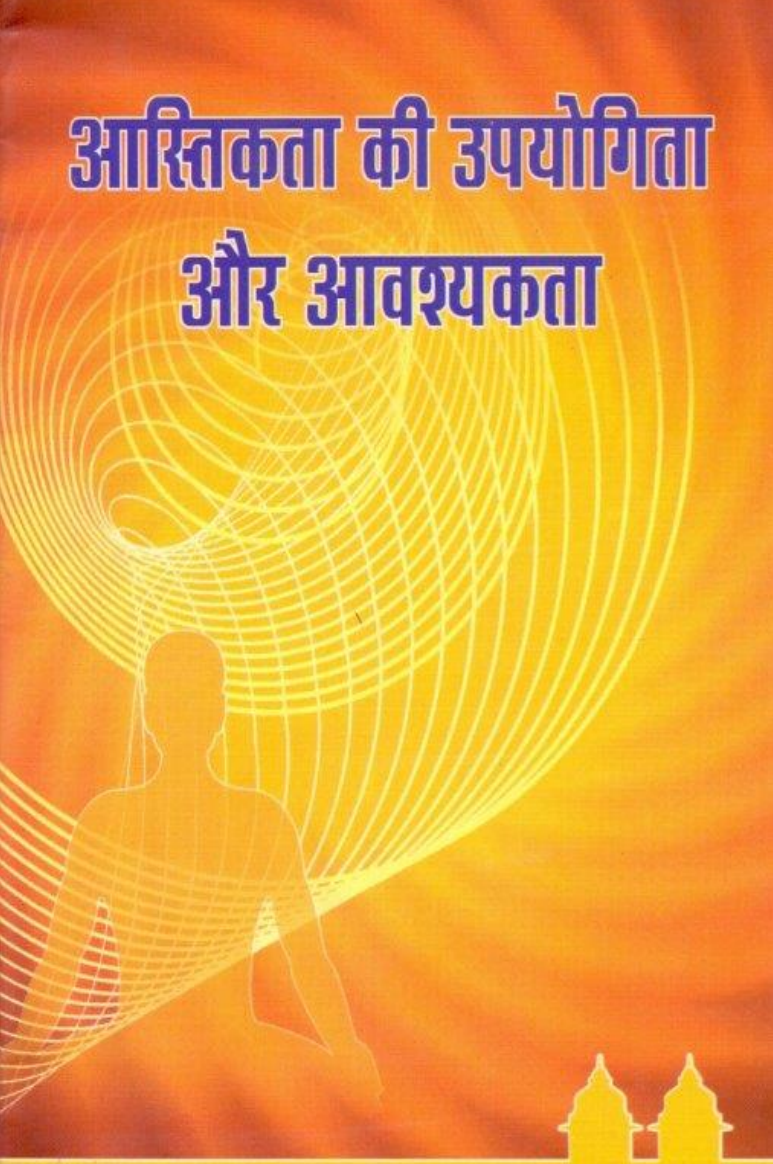

-पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

आस्तिकता की उपयोगिता और आवश्यकता

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : ७.०० रुपये

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

चित्तशुद्धि के अन्य साधनों को अगर मैं सोडा या साबुन की उपमा दूँ तो ईश्वरार्पण को जल की उपमा दूँगा। सोडा-साबुन जल के बिना क ाम नहीं देते, लेकिन सोडा-साबुन के बिना भी शुद्ध जल से धोने का काम हो जाता है।

–विनोबा

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

आत्मा और परमात्मा का संबंध

जीव क्या है ? चेतना के विशाल सागर की एक छोटी-सी बूँद अथवा लहर। हर शरीर में थोड़ा आकाश भरा होता है, उसका विस्तार सीमित है, उसे नापा और जाना जा सकता है; पर वह अलग दीखते हुए भी ब्रह्मांड-व्यापी आकाश का ही एक घटक है। उसका अपना अलग से कोई अस्तित्व नहीं। जब तक वह काया-कलेवर में घिरा है, तभी तक सीमित है। काया के नष्ट होते ही वह विशाल आकाश में जा मिलता है। फेफड़ों में भरी सांस सीमित है। पानी का बबूला स्वतंत्र है, फिर भी इनके सीमा बंधन अवास्तविक हैं। फेफड़े में भरी वायु का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। ब्रह्मांड-व्यापी वायु ही परिस्थितिवश फेफड़ों की छोटी परिधि में कैद है। बंधन न रहने पर वह व्यापक वायुतत्त्व से पृथक दृष्टिगोचर न होगी। पानी का बबूला हलचलें तो स्वतंत्र करता दीखता है, पर हवा और पानी का छोटा-सा संयोग जिस क्षण भी झीना पड़ता है; पानी, पानी और हवा, हवा में जा मिलती है। बबूले का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

जीव अर्थात व्यापक ईश्वरीय सत्ता का परिस्थितिवश स्वतंत्र दिखाई पड़ने वाला एक छोटा और अस्थायी घटक। चेतना का असीम समुद्र सर्वत्र लहलहा रहा है। हम सब उसी में जन्मने, मरने और जीवित रहने वाले जल-जंतु हैं। यह उपमा अधूरी लगती हो तो सागर और उसकी लहरों का उदाहरण ठीक समझा जा सकता है। हर लहर पर एक स्वतंत्र सूर्य चमकता देखा जा सकता है, पर उतने सूर्य हैं नहीं। यह दृश्य की विचित्रता है। वस्तुतः एक ही सूर्य के पृथक प्रतिविंब भर चमकते हैं।

जीव और ईश्वर के संबंध की यथार्थता को समझ लेने पर कई बातें उभरकर आती हैं—एक तो यह कि अंश में अंशी के समस्त गुण होने चाहिए, दूसरे यह कि पृथकता के पर्दे में पीछे से झाँकती हुई एकता का दर्शन किया जाना चाहिए और भी कई तथ्य हैं, जो सत्य के निकट तक पहुँचाते हैं, पर अभी हमें इन दो पर ही विचार कर लेना उचित होगा।

आग की छोटी चिनगारी में वे सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं, जो विशालकाय भट्ठी में पाई जाती हैं। चिनगारी में गरमी भी है और रोशनी भी। यदि अवसर मिले, तो उपयुक्त ईंधन पाकर उसकी लघुता सुविस्तृत हो सकती है। आकार की लघुता-विशालता तो यथार्थ है, पर संभावना-तात्त्विकता एवं एकता के कोई अंतर नहीं। जीवात्मा उन्हीं विशेषताओं और संभावनाओं से भरा-पूरा है, जो परमात्मा में विद्यमान है। इतना होते हुए भी चिनगारी अपने छोटेपन के कारण दुर्बल और अशक्त दिखाई पड़ती है। कई बार तो दुर्गंधयुक्त ईंधन के साथ रहने पर हेय और घृणित भी प्रतीत होती है। चंदन की लकड़ी में और मल के ढेर में जलने वाली अग्नियों में से एक आनंददायक होती है और सुगंध बिखेरती है, जबकि दूसरी कष्टकारक दुर्गंध के रूप में तिरस्कृत होती है। यद्यपि मूलत: एक ही अग्नितत्त्व इन दोनों स्थानों में काम कर रहा होता है।

आत्मा की महिमा और गरिमा को समझा जा सके तो उसे उसके स्तर के अनुरूप स्थिति में रखने की इच्छा होगी। इसके लिए जगी अभिलाषा और विकसित हुई स्थिति आत्मगौरव कहलाती है। गौरवान्वित को संतोष मिलता है और आनंद भी। तिरस्कृत को हीनता अनुभव होती है और लज्जित एवं दुखी रहना पड़ता है। आत्मबोध जब तक न हो तब तक भेड़ों के झुंड में पले सिंह शावक की तरह हेय स्थिति में नर-पशु की तरह रहना पड़ता है; पर जिस क्षण अपने अस्तित्व की यथार्थता एवं गरिमा का बोध होता है, उसी समय में यह आतुरता उत्पन्न होती है कि लज्जास्पद स्थिति से उबरना ही चाहिए। गौरवान्वित होकर ही रहना चाहिए। हेय और हीन बनकर रहना जब धिक्कार के योग्य लगता है तो भीतर से एक विशेष तड़पन और तिलमिलाहट उठती है। तत्त्वज्ञानियों ने इसी स्थिति को ईश्वर भक्ति कहा है। हेय स्तर अर्थात भव-बंधन। उत्कृष्ट स्वाभाविकता अर्थात ईश्वर मिलन।

ब्रह्म विद्या में आत्मबोध को प्रथम स्थान दिया गया है और अपने आपे की वास्तविकता समझाने के लिए कई सूत्र संकेत दिए गए हैं। अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म, शिवोऽहम्, सच्चिदानंदोऽहम्,

सोऽहम्, तत्त्वमसि आदि सूत्रों में ईश्वर और आत्मा की एकता का प्रतिपादन है। अंश और अंशी की स्थिति का उद्‌बोधन है। जीव चेतना को ब्रह्म चेतना का छोटा संस्करण माना गया है और कहा गया है कि उसमें सत्, चित्, आनंद की, सत्यं-शिवं-सुंदरम् की समस्त विशेषताएँ विद्यमान हैं।

संकट प्रसुप्त स्थिति का है। सोया हुआ मनुष्य अर्द्धमृतक स्थिति में पड़ा रहता है। उस स्थिति में उसे गंदगी, दुर्गंध, अपमान, दुर्गति का बोध नहीं होता । कुछ भी भला-बुरा होता रहे, गहरी नींद में कुछ सूझता ही नहीं। ठीक आत्मबोध से रहित स्थिति में जीव की असीम दुर्गति रहती है। खुमारी यह विदित ही नहीं होने देती कि उसकी कैसी दुर्गति हो रही है। इस खुमारी के कारण उत्पन्न हुई अर्द्धमूर्च्छित स्थिति को 'माया' कहते हैं। माया को ही जीव की दयनीय दुर्गति का कारण बताया गया है।

मायाग्रसित स्थिति में जीव अपने को आत्मा न मानकर शरीर अनुभव करने लगता है और उसी के लाभ-हानि को अपना मानने लगता है। इसकी इच्छा, आकांक्षा और अभिरुचि इन्हीं बातों में सीमाबद्ध हो जाती है, जो शरीर और मन को प्रिय है। अपने स्वरूप को भूला हुआ जीव अपने लक्ष्य एवं हित को भी भूल जाता है और मात्र उतना ही सोचता है, जितना शरीर को रुचिकर लगे। यह विचित्र स्थिति है कि कोई अपने वाहन, उपकरण, वस्त्र, घर आदि को सुसज्जित रखने के लिए तो समय, बुद्धि और धन को खरच करता रहे, किंतु अपनी भूख-प्यास का, आरोग्य-आजीविका का कुछ भी विचार न करे। शरीर और मन जीवन रथ के दो पहिये हैं। इन्हें दो घोड़े या दो सेवक भी कहा जा सकता है। इनके सहारे जीवन यात्रा सुविधापूर्वक संपन्न हो सके इसलिए परमपिता ने अपने राजकुमार के लिए इन बहुमूल्य साधनों की व्यवस्था की है। इन्हें सँभालकर रखा जाना चाहिए और सदुपयोग किया जाना चाहिए। यह बुद्धिमत्तापूर्ण है। किंतु जब जीव अपना लक्ष्य भूलकर मात्र इन दो वाहनों की साज-सज्जा में लगे रहने के अतिरिक्त और कुछ सोचता ही नहीं तो इस स्थिति को माया-मूढ़ता कहते हैं।

जीव की उत्कृष्ट और असीम संभावनाओं से भरी-पूरी स्थिति को दीन-दयनीय स्थिति से घिरा देखा जाए तो यह उसकी स्वाभाविक स्थिति नहीं मानी जानी चाहिए वरन् माया-मूढ़ता का अभिशाप समझा जाना चाहिए। बंधनों की जकड़न शरीर और मन के लिए इतनी कष्टकारक होती है, उसे कोई भी भुक्तभोगी समझ सकता है। किसी के हाथ-पैर कसकर, मुँह में पट्टी बाँधकर अंधेरी कोठरी में डाल दिया जाए तो उसे कितनी शारीरिक पीड़ा और मानसिक व्यथा होगी, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। ईश्वर के अंश जीव की दुर्गति का कारण यही माया-बंधन है। इन्हीं को काटने के लिए जो प्रबल पुरुषार्थ किया जाता है, उसे साधना एवं उपासना कहते हैं।

ईश्वर भक्ति का अत्यधिक माहात्म्य बताया गया है। उसके असंख्य भौतिक एवं आत्मिक लाभ गिनाए गए हैं। वह प्रतिपादन सर्वथा सही है। भक्ति का प्रयोजन, अपना मूल स्वरूप समझना और मायाजन्य दुर्गति से छुटकारा प्राप्त करना है। आत्मबोध को इसी परिवर्तन का केंद्रबिंदु माना गया है। इसे आत्मसाक्षात्कार अथवा ईश्वर दर्शन भी कहते हैं। बंधन-मुक्ति, जीवन-मुक्ति, नव जाग्रति, प्रकाश प्राप्ति आदि शब्दों में इसी स्थिति की चर्चा की गई है। इस उपलब्धि को परम पुरुषार्थ की परम सफलता कहा गया है। इस स्थिति में पहुँचे हुए व्यक्ति को जो दिव्य संतुष्टि एवं प्रसन्नता होती है, उसे ब्रह्मानंद, परमानंद आदि के नाम से जाना जाता है। इसी को जीवन-लक्ष्य की पूर्ति कहते हैं। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जो प्रयत्न करने पड़ते हैं, उन्हें योग और तप के नाम से पुकारते हैं।

बिजलीघर से संबंधित रहने पर बल्ब जलते और पंखे चलते हैं। कनेक्शन कट जाने पर अच्छे-खासे विद्युत उपकरण भी गतिहीन बने पड़े रहते हैं। ईश्वर और आत्मा के बीच सघन आदान-प्रदान की शृंखला को सुदृढ़ बनाने के लिए भक्तिभावना की आवश्यकता पड़ती है। चेतना का स्वरूप भावनात्मक है, उसमें संवेदना भरी रहती है। सबसे बड़ी, सबसे प्रखर भावना प्रेम है। इसी को भक्ति कहते हैं। इसी के साथ-साथ दया, करुणा, उदारता, सेवा,

सहकारिता, पवित्रता जैसी अन्य उदात्त भावनाएँ सहचरी बनकर चलती हैं। इन्हें प्रेम रूपी सूर्य की किरणें भी कह सकते हैं। ईश्वर दिव्य संवेदनाओं का केंद्र है। उसके साथ घनिष्ठता के संबंध जोड़ने के लिए भक्ति-भावना के विकास का अभ्यास करना पड़ता है, उपासनात्मक अनेक क्रिया-प्रतिक्रियाएँ इसी आत्मविकास का पथ प्रशस्त करती हैं।

ईश्वर की महिमा अपार है, उसकी सामर्थ्य अनंत है, उसका कर्तृत्व महान है; जो कुछ महत्त्वपूर्ण है, सभी उसके गर्भ में विद्यमान है। मनुष्य की इच्छा और आवश्यकता को पूरा कर सकने से कहीं अधिक विभूतियाँ ईश्वरीय सत्ता में विद्यमान हैं, पर अपनी पकड़ और पात्रता स्वल्प होने के कारण जो मिलता है, वह स्वल्प होता है। स्वल्प से संतोष नहीं होता। अपनी सत्ता लघु है। इसलिए उसके उपार्जन भी सीमित रहते हैं। असीम आकांक्षाओं की तृप्ति असीम के समुद्र में ही मिलने से पूरी होती है। गंगा का उद्‌भव हिमालय से हुआ है, तो भी वह जानती है कि वह स्वयं पाषाण नहीं, जल है। पत्थर के टुकड़े पत्थर के ढेर में जमा होने पर गर्व कर सकते हैं, पर जलधारा को तो असीम जलराशि में मिलकर ही पूर्णता का आनंद मिल सकता है। अस्तु, गंगा की धारा दौड़ती हुई समुद्र तक पहुँचती है और उसी में विलीन हो जाती है।

जीवात्मा को गंगा की तरह भौतिकता के पाषाण पर्वत से असंतोष ही बना रहता है। तृप्तिदायक संतोष उसे असीम के अधिष्ठाता ईश्वर के साथ मिलने पर ही हो सकता है। यही है वह आकांक्षा जिसके अतृप्त रहने पर वह हर दिशा में प्यासा फिरता है और निराशा हाथ लगने पर वह थकान से चूर और खीज से उद्विग्न बना रहता है। मृग-तृष्णा में भटकने वाले हिरन की तरह जीव भी एक छोड़ दूसरा तृप्ति का आधार खोजता है। दूसरे से तीसरे पर और तीसरे से चौथे पर उसकी खोज चलती रहती है। हर प्रयास के बाद नई प्यास की अतृप्ति तब तक चलती रहती है, जब तक ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो जाती। गंगा को समुद्र में मिलने से ही तो शांति मिल सकी है।

आत्मा का परमात्मा से मिलन ही जीवन का परम लक्ष्य और परम लाभ है। इसी को प्राप्त करने के लिए लंबा मार्ग पूरा करना पड़ता है। अमीबा से लेकर बंदर तक और बंदर से मनुष्य तक की लंबी यात्रा इसी प्रयोजन के लिए पूरी करनी पड़ी है कि लघु से महान के लिए जो पुरुषार्थ करना पड़ता है, उसके अनुभव लिए जाएँ और क्रमशः अधिक बुद्धिमत्ता का परिचय देते हुए अपूर्णता से चलकर पूर्णता तक पहुँचा जाए। इसी क्रीड़ा-कल्लोल में जीव को धकेला गया है। प्रायः सभी पशु-पक्षी अपने बच्चों को सुयोग्य एवं समर्थ बनाने के लिए इसी तरह की शिक्षा पद्धति से काम लेते हैं। संभवतः ईश्वर ने भी जीव को क्रमशः अधिकाधिक सक्षम बनने की लंबी यात्रा पर चल पड़ने के लिए विवश किया है। अन्य योनियों में यह यात्रा धीमी गति से चलती है। बच्चा भी तो ठुमक-ठुमक कर चलता है। जवान की सामर्थ्य की परीक्षा लंबी दौड़ और ऊँची कूद जैसे उपक्रमों से परखी जाती है। मनुष्य जीवन जीवात्मा की जवानी है। उससे उसे पूर्णता का लक्ष्य पूरा करने के लिए विशेष अवसर और विशेष साधन मिला है। तत्त्वज्ञानी इसीलिए हर विवेकवान को सजग करते हैं कि वह यथार्थता को समझे। जीवन का मूल्यांकन करे और इस दुर्लभ अवसर का जो लाभ उठाया जा सकता है, उसकी ओर से आँखें बंद न किए रहे।

जीवन का स्वरूप उद्देश्य लक्ष्य और उपयोग समझने-समझाने की पुण्य-प्रक्रिया को ब्रह्मविद्या के नाम से जाना जाता है। इसी को चरम ज्ञान कहा गया है। सामान्य व्यक्ति शरीर के इंद्रिय सुख और मन के अहंकार तोष को ही सब कुछ मानते हैं और उन्हीं के लिए साधन जुटाने में निरंतर लगे रहते हैं। वासना और तृष्णा को पूरा करने में ही उनका मनोयोग, श्रम और समय निरत रहता है। कृमि-कीटकों से लेकर पशु-पक्षियों तक सभी सामान्य जीव पेट और प्रजनन की प्रेरणा से ही अपनी गतिविधियाँ चलाते हैं। मनुष्य की स्थिति विशेष है। उसे ऊँची बात सोचनी चाहिए और यथार्थता को खोजना चाहिए। समझदारी इसी में है और इसी को दूरदर्शिता, विवेकशीलता एवं बुद्धिमत्ता कह सकते हैं।

"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" की गीता उक्ति में इस लोक की, इस जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि सद्ज्ञान को ही कहा है। जिस पैनी दृष्टि से जीवन का स्वरूप एवं लक्ष्य समझा सके और उस दुर्लभ अवसर के सदुपयोग की योजना बन सके, ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान उसी को कहते हैं। यह उपलब्ध होने पर जीवनोद्देश्य को पूर्ण कर सकने वाली निश्चित योजना बन जाती है। दृष्टि साफ हो जाती है और मार्ग के संबंध में संदेह नहीं रह जाता। इसे प्रकाश की प्राप्ति कहा गया है और सबसे बड़ा सौभाग्य माना गया है। शास्त्रों में इस उपलब्धि के कई नाम हैं—ऋतंभरा प्रज्ञा, दिव्य दृष्टि, भूमा आदि। इसी को गायत्री कहते हैं। गायत्री महामंत्र में जिस सविता की समीपता का, वरेण्य की उपासना का, भर्ग की आराधना का, देव की अनुभूति का, धी की धारणा का, प्रकाश की प्रेरणा का अनुरोध-आग्रह किया गया है, वही एकमात्र ईश्वरीय वरदान है। यह मिल सके तो फिर और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। इतना मिल जाने के बाद तो उस थोड़े-से साहस का अभ्यास करना पड़ता है, जिसके सहारे पशु-प्रवृत्तियों के अभ्यास की आदत छोड़ी जा सके और दिव्य जीवन की रीति-नीति का दिनचर्या में समावेश किया जा सके।

ईश्वर के अति निकट होते हुए भी हम उसे अनुभव नहीं कर पाते। इस विचित्र व्यामोह का निवारण करने के लिए ही ध्यान-प्रक्रिया अपनानी पड़ती है और जो बहुमूल्य रत्न खो गया है, उसे गंभीरतापूर्वक तलाश करना पड़ता है। आश्चर्य यह है कि अति समीप का तत्त्व हमारे लिए अति दूर बन गया है। गले में बँधे हुए कंठे की याद नहीं रहती है। उसकी खोज में भारी दौड़-धूप की जा रही है। और तो और उस प्राणप्रिय प्रियतम का हम नाम तक भूल गए हैं और रूप तक विस्मृति के गर्त में चला गया है। कैसी है यह विचित्र स्थिति अपनी। उसे उन्मत्त की, विक्षिप्त की मनोदशा कहा जा सकता है। भुलक्कड़ तो तरह-तरह के देखे गए हैं, पर जो अपने को, अपने लक्ष्य को ही भूल बैठे, उसके लिए क्या कहा जाए? ऐसी विचित्रता हमें अपने भीतर ही दीख पड़ेगी। न अपना स्वरूप याद

आता है और न लक्ष्य की स्मृति शेष रहती है। इसी विस्मृति को स्मृति में बदलने के लिए नाम जप और इष्टदेव के ध्यान की प्रक्रिया बनाई गई है।

ईश्वर को, उसके स्वरूप एवं क्रिया-कलाप को, आदर्श-निर्देश को यदि देखना, खोजना हो तो वह अपने भीतर ही भली प्रकार दृष्टिगोचर हो सकता है। उसे बाहर देखने का मन हो तो उसका स्वरूप और लीला विलास देखने में भी कुछ कठिनाई नहीं है। अंतर में झाँकें तो वह परम प्रभु हँसता-मुस्कराता और कुछ कहता-करता दिखाई पड़ेगा। ऊँचा उठने और आगे बढ़ने की अदम्य आकांक्षा ही किसी के भीतर बनी रहती है, आत्मगौरव हर किसी को अभीष्ट है, सत्-असत् का विवेक सभी में है—श्रेष्ठ आचरणों से आत्मसंतोष और निकृष्टता से आत्मविद्रोह का अनुभव हर कोई करता है। यही देवत्व है। भावना-क्षेत्र में इन्हीं दिव्य संवेदनाओं के रूप में ईश्वरीय चेतना को अपने अंतःकरण में विराजा हुआ देखा जा सकता है। मानवी आत्मा की मूल प्रवृत्तियाँ यही हैं। भौतिकवादी अन्वेषणों ने मानवी चेतना को पशु और पिशाच के रूप में खोजा है। ये उसे भय, आक्रमण, स्वार्थ, सेक्स से प्रेरित-पीड़ित मानते हैं और प्रकारांतर से मत्स्य न्याय एवं सर्वभक्षी उपभोग का समर्थन करते हैं। उन्होंने तो जीवन को रासायनिक उत्पादन माना है और पुनर्जन्म, परलोक, कर्मफल, जीव सत्ता एवं परमात्मा के अस्तित्व तक से इनकार किया है। इस समय उस विवाद में नहीं उलझा जा सकता, केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यदि ये प्रतिपादन सही रहे होते तो अब तक न्याय, नीति, धर्म, सदाचार एवं मानवी मर्यादाएँ कब की समाप्त हो गई होतीं और बुद्धिबल का पैशाचिक प्रयोग करके एक-दूसरे का रक्तपान करते हुए मनुष्य कब के मर-खपकर समाप्त हो गए होते। तब इस संसार में सद्भावना और आदर्शवादिता नाम की कोई परंपरा शेष नहीं रही होती। निश्चय ही अगले दिनों वही मान्यता सर्वत्र स्वीकार्य होती। यदि वैसा हुआ तो इतनी भविष्यवाणी निश्चित रूप से की जा सकती है कि बुद्धिहीन पशु तो आदर्शविहीन रहकर भी निर्वाह करते रहेंगे, पर बुद्धिमान मनुष्य

अमर्यादित वासना और अनियंत्रित तृष्णा को अपनाकर पिशाच कृत्यों पर उतरेगा तो राजदंड व समाज दंड भी उसे रोक न सकेंगे और स्वच्छंदतावाद की चिता में कूदकर मानव जाति को सामूहिक आत्महत्या के लिए विवश होना पड़ेगा।

हमारा विश्वास है कि न तो वे मान्यताएँ सही हैं और न उन्हें मानवी विवेक कभी स्वीकार करेगा। आत्मा की उत्कृष्टता अक्षुण्ण बनी रहेगी और वह क्रमिक विकास के पथ पर चलते हुए अधिकाधिक समुन्नत-परिष्कृत होती चलेगी। जैसे-जैसे हम अध्यात्म की यथार्थता और महत्ता को समझेंगे, वैसे-वैसे उसे अधिक उत्साहपूर्वक अपनाने और अधिक श्रद्धापूर्वक हृदयंगम करने के लिए उत्साह प्रकट करेंगे। साहसपूर्वक उस मार्ग पर चलने के लिए प्रयास करेंगे।

हाँ, तो कहा यह जा रहा था कि अपने भीतर ईश्वर की झाँकी उत्कृष्टतावादी और अदम्य सत्प्रेरणाओं के रूप में की जा सकती है। ऊँचा उठने, आगे बढ़ने, गौरवास्पद बनने और आत्मसंतोष पाने की आकांक्षा केवल दिव्य जीवनक्रम अपनाकर ही पूरी की जा सकती है। औचित्य अपनाकर एक सीमा तक भौतिक उन्नति भी हो सकती है और उसका सदुपयोग भी बन पड़ सकता है, पर यदि आदर्श-विहीन संग्रह-उपभोग और आतंक की गति अपनाई गई तो आत्मिक आकांक्षाओं में से एक भी पूरी न हो सकेगी। कुछ पाया भी तो वह उतना महँगा पड़ेगा कि बाह्य अवरोध एवं आंतरिक विद्रोह उसे नीरस एवं भारभूत बनाकर रख देंगे। अंतःकरण के मर्मस्थल से जिस महानता की प्राप्ति के लिए हूक उठती रहती है, उसे उत्कृष्ट आदर्शवादिता अपनाकर ही पूरा किया जा सकता है। इसी प्रेरणा को ईश्वरीय चेतना, दैवी संदेश, आत्मा की पुकार एवं वेदवाणी कहा जा सकता है। जिसकी यह अंतःप्रेरणा जितनी प्रबल है, उसकी आत्मा में ईश्वर की ज्योति उतनी ही अधिक दीप्तिमान देखी जा सकती है।

भगवान के अवतार समय-समय पर होते रहे हैं। उनके अवतरण का उद्देश्य एक ही रहा है, अधर्म का विनाश और धर्म का संस्थापन। दुष्कृत्यों का निराकरण और साधुता का परित्राण, इस एक ही प्रयोजन

के लिए विभिन्न स्तर के नाम रूप वाले अवतार हुए हैं। उनके क्रिया-कलापों में भिन्नता तो रही है, पर प्रयोजन एक ही रहा है। जो तथ्य वेद रूप में बाह्य जगत में प्रकट होता रहा है, वही अंत:करण में भी अवतरित होता हुआ देखा जा सकता है। अपनी भीतरी दुनिया भी कम विस्तृत नहीं है। इसमें भी अनेक अवांछनीय असुरताएँ दुष्प्रवृत्तियों के रूप में अट्टहास करती हुई देखी जा सकती हैं। ईश्वर का अवतार जिस भी अंत:करण में प्रकट होगा, वहाँ उसका दुष्प्रवृत्तियों के उन्मूलन का कार्य तेजी के साथ संपन्न हो रहा होगा। राम अवतार में लंकाकांड का, कृष्ण अवतार में महाभारत का युद्ध प्रसंग सर्वप्रमुख एवं सर्वविदित है। यही अंत:संघर्ष प्रत्येक ईश्वरभक्त के भीतर चलता है। विकृतियों के प्रति उसका रोष-आक्रोश बढ़ता जाता है और क्रियाक्षेत्र में, विचारक्षेत्र में जो भी दुष्प्रवृत्तियाँ जड़ जमाकर बैठ गई हैं, उनके उन्मूलन का प्रयत्नपूर्वक संवेग के साथ चल पड़ता है। भगवान परशुराम ने इस पृथ्वी को असुर-विहीन कर दिया था। रामचंद्रजी को भी निशिचर हीन करों महि का भुज उठाय प्रण करना पड़ा था। प्रत्येक भक्त अंतरात्मा में ईश्वर का अवतरण इसी रूप में होता है। भीतर से आरंभ होकर यह शोधन प्रक्रिया क्रमश: विकसित होती चली जाती है और दीपक जिस प्रकार स्वयं प्रकाशवान बनने के साथ-साथ अपने क्षेत्र को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार यदि अवांछनीयताओं का उन्मूलन करने की प्रक्रिया उभरती दीख पड़े तो उस उभार को प्रत्यक्ष ईश्वर दर्शन के रूप में देखा जा सकता है।

ईश्वर के अवतार का दूसरा उद्देश्य है—धर्म की स्थापना, साधुता का उत्कर्ष। यह पूरक प्रक्रिया हुई। अधर्म का उन्मूलन निषेधात्मक, धर्म की स्थापना विधेयात्मक, दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं। नींव खोदने के उपरांत दीवार चुनी जाती है। खेत जोतने के बाद बीज बोया जाता है। झाड़ियाँ काटकर समतल खेत बनाए जाते हैं। अनीति को हटाकर नीति की स्थापना की जाती है। असुरता का उन्मूलन और देवत्व का अभिवर्द्धन एक ही प्रयोजन के दो पक्ष हैं। दर्जी कपड़े को काटता भी है और सींता भी है। डॉक्टर ऑपरेशन के

बाद मरहम-पट्टी भी करता है। मल विसर्जन जैसे नित्य कर्म करने बाद भोजन व्यवस्था भी की जाती है। अधर्म का उन्मूलन तभी सार्थक होता है, जब उसके साथ-साथ धर्म का सृजन भी होता चले। असुरता के विनाश की पूर्णता देवत्व के अभिवर्द्धन में अविच्छिन्न रूप से जुड़ी रहती है।

किसी में ईश्वर का अवतरण कितने आवेश और आलोक का है, उसका निर्धारण इस साधारण आधार पर हो सकता है कि वह व्यक्ति अपने भीतरी और बाहरी क्षेत्र में अवांछनीयताओं के उन्मूलन और सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन में कितनी तत्परता के साथ संलग्न है।

दुर्गुणों को हटा देना ही पर्याप्त नहीं, सद्गुणों का बीजारोपण, सिंचन एवं अभिवर्द्धन भी उसी उत्साह के साथ होना चाहिए। गुण-कर्म-स्वभाव में समाई हुई दुष्प्रवृत्तियों को हटा देना तो खाई पाट देना भर हुआ। उस स्थान पर नए देव मंदिर का सृजन करने के साधन भी जुटाए जाने चाहिए। दुर्बुद्धि छोड़ देना एक पक्ष है, उतने से तो हानि भर रुकेगी, लाभ कमाने के लिए सद्बुद्धि को सक्रिय होना चाहिए। दोहन पात्र के पेंदे में हुए छेद बंद करने से उसमें भरी वस्तु के फैलने का संकट भर दूर होता है। उस पात्र को दूध से भरने के लिए तो कुछ अन्य आंतरिक प्रयास करने पड़ेंगे। छेद बंद कर देने मात्र से कोई व्यक्ति उस उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकता, जिसके लिए दूध दुहने वाला पात्र खरीदा गया था।

गुण-कर्म-स्वभाव के क्षेत्र में उत्कृष्टता का समावेश करते चलने वाली दिव्य धारा का जब अंतःकरण में उभार आने लगे, तो समझना चाहिए कि ईश्वर का अवतरण हो रहा है। गरमी की ऋतु आते ही हर वस्तु का तापमान बढ़ जाता है, समझना चाहिए कि व्यक्ति में ईश्वर का अवतरण आदर्शवादी गतिविधियाँ अपनाने के लिए उत्साह और साहस भरी ऊष्मा उत्पन्न किए बिना होता नहीं। वर्षा ऋतु आती है तो हवा में नमी बढ़ती है और धरती पर हरियाली उगती है। वर्षा ऋतु की तरह ही ईश्वर अवतरण की लहर आती है तब आकाश में सद्भावनाओं

के बादल बरसते हैं, कुछ श्रेष्ठतम कर गुजरने की उमंगें बिजली की तरह कड़कती हैं। जीवन के धरातल पर सत्प्रवृत्तियों की घास अनायास ही उग पड़ती है और जिधर भी नजर उठाई जाए हरितमा नजर आती है। अंतरंग में सद्गुणों का उभार होता है और बाहर भी इस विश्व उद्यान की शोभा-सुंदरता देखने में आँखें आनंद अनुभव करती हैं। शीत ऋतु में जिसे भी छुआ जाए ठंढा प्रतीत होता है। अपने भीतर की शांति बढ़ चले और संपर्क क्षेत्र में शांति संस्थापन का प्रयास सफल होने लगे तो समझना चाहिए कि यह ईश्वरीय अवतरण का चमत्कार है, वृक्षों के पुराने पत्ते पीले पड़ते और झड़ते हुए शीत ऋतु में देखे जाते हैं। यही हाल ईश्वर भक्ति के प्रभाव से होता है। पुरानी वे आदतें, पुरानी वे इच्छाएँ झड़ती-गिरती चली जाती हैं, जिनके कारण मनुष्य को पेट और प्रजनन तक सीमाबद्ध व पशु स्तर का जीवन जीना पड़ता है। वसंत में नए पल्लवों, नए पुष्पों से वृक्ष-वनस्पतियों को लदा हुआ देखा जाता है। ईश्वर अवतरण का प्रभाव ऐसा उल्लास उत्पन्न करता है, जिससे व्यक्तित्व के कण-कण में देव चेतना का सौंदर्य खिलता हुआ देखा जा सके। ऋतुओं के प्रभाव से बदलता हुआ वातावरण सहज ही पहचाना जा सकता है और अनुमान लगाया जा सकता है कि इन दिनों अमुक मौसम है। किसी के व्यक्तित्व को, चिंतन और कर्तृत्व को उत्कृष्टता युक्त देखा जाए तो समझना चाहिए कि यहाँ ईश्वरीय अवतरण का पुण्य प्रभात हो चला।

गंगावतरण की कथा प्रसिद्ध है। भगीरथ ने तप किया था और वे उन्हें स्वर्ग से धरती पर लाए थे। भागीरथी ने विशाल भूखंड की प्यास बुझाई और संपत्ति उगाई। शिव की जटाओं से भी गंगा के प्रकट होने की चर्चा है। हमारा मस्तिष्क ब्रह्मलोक है, इसी को स्वर्ग कहते हैं। सद्ज्ञान की गंगा का अवतरण यहीं से होता है और उसकी धारा सुविस्तृत भूखंड पर प्रवाहित हो चलती है। सद्ज्ञान का विस्तार सत्कर्म में होता है। सद्भावनाएँ अवतरित होती हों और वह सत्प्रवृत्तियाँ बनकर कर्मक्षेत्र में बहती हों तो समझना चाहिए कि भक्त भगीरथ

की तप-साधना सफल हो चली और ईश्वर दर्शन का प्रयोजन पूर्ण हो गया।

अपने जीवन में ईश्वर की विद्यमानता देख सकना कुछ भी कठिन नहीं है। उत्कर्ष की, आत्मगौरव को प्राप्त करने की आकांक्षा स्पष्टत: यही अंगुलि निर्देश करती है कि पशु स्तर का जीवन-यापन अपर्याप्त है, अतृप्तिकर है, अवांछनीय है। इस स्थिति से आगे बढ़ा जाए, ऊँचा उठा जाए। मात्र जीवात्मा न रहकर महानात्मा, देवात्मा एवं परमात्मा बनने का सौभाग्य प्राप्त किया जाए। भटकाव के कारण मनुष्य यह लाभ नहीं ले पाता। भौतिक वस्तुएँ समेटने और दूसरों को चमत्कृत करने वाले जादुई विलास-वैभव के संग्रह के लक्ष्य की पूर्ति सोची जाती है। बड़प्पन के ठाठ रोपे जाते हैं और उस उन्माद में कुमार्ग अपनाकर प्रगति के नाम पर पतन के गर्त में गिरा जाता है। यदि यथार्थता को समझा जा सके तो यह आत्मिक आकांक्षा-संपन्नता संग्रह करने के लिए, महानता संपादित करने के लिए मार्गदर्शन करती दिखाई पड़ेगी। उत्कर्ष की उमंग के रूप में अपने भीतर हम ईश्वरीय सत्ता को दिशा निर्देश करती हुई देख सकते हैं।

विवेक के रूप में उचित को अपनाने और अनुचित से बचने की प्रक्रिया भी ईश्वर हर घड़ी पूरा करता है। प्रत्येक सत्कर्म हमें आंतरिक संतोष देता है और प्रत्येक दुष्कर्म के प्रयास से छाती धड़कती है, अंतर्द्वंद्व खड़ा होता है और पैर काँपते हैं। औचित्य के लिए प्रोत्साहन देने वाले और अनौचित्य के प्रति निरुत्साह उत्पन्न करने वाले इस अंत:करण को ईश्वरीय सत्ता की विद्यमानता के रूप में देखा जा सकता है।

करुणा, प्रेम, दया, श्रद्धा जैसी सद्भावनाएँ असीम आत्मसंतोष प्रदान करती हैं। इन्हें चरितार्थ करने के लिए कुछ कष्ट सहना, संयम बरतना और त्याग करना पड़ता है तो भी उससे दु:ख नहीं संतोष ही होता है। इसे ईश्वरीय चेतना का दिव्य शिक्षण कह सकते हैं। उत्कृष्टता की भूख अदम्य है, न्याय और औचित्य का समर्थन शाश्वत है। चोर भी चोरी के सिद्धांत का समर्थन नहीं कर सकता, वह अपने घर चोर को नौकर रखने के लिए तैयार न होगा। यह सत्य

की, ईश्वर की दिग्विजय है। हमने निरंतर ईश्वरीय वाणी की अवज्ञा और प्रेरणा की अवहेलना की है सो आदत भी वैसी बन गई है। धूल जमते-जमते दर्पण धुँधला हो गया है अन्यथा हर कोई अंतरात्मा के भीतर महानता की दिशा में बढ़ चलने की प्रेरणा के रूप में कोई भी, कभी भी जीवंत किंतु धूमिल बनाई गई ईश्वरीय चेतना का दर्शन कर सकता है।

शरीर के ढाँचे पर दृष्टि डाली जाए और उसके भीतर कार्यान्वित हो रही रीति-नीति पर गहराई से ध्यान दिया जाए तो प्रतीत होगा कि ईश्वरीय चेतना की प्रकृति क्या है और वह व्यष्टि एवं समष्टि में किस प्रकार काम करती है। घटकों की घनिष्ठता और अवयवों की सहकारिता देखते ही बनती है। यों जीवाणुओं की स्वतंत्र सत्ता है, पर उन सबने इस प्रकार का निर्वाह क्रम अपनाया है कि घनिष्ठता देखते ही बनती है। उलट-पुलटकर देखा जाए तो वे एक-दूसरे के साथ गुथे हुए लगेंगे। उनमें से किसी की इच्छा अलग रहने या अलग बढ़ने की नहीं होती। हर घटक का संतोष पारस्परिक आत्मीयता का आनंद लेने में ही केंद्रित हो रहा है। इनमें से किसी घटक को काटकर अलग किया जाए तो छोटी-सी काट-छाँट भी सारे शरीर को व्यथित कर देती है और जहाँ से कुछ कटा था, वहीं रक्त के आँसू बहने लगते हैं। प्रत्येक जीवाणु अहर्निश श्रम निरत रहता है और अपनी सत्ता का लाभ समूचे शरीर को देता है। यह सघनता ईश्वरीय है। व्यक्ति को घटक बनकर रहना चाहिए और उसका स्वार्थ और परमार्थ एक रहना चाहिए।

अवयवों की सहकारिता दर्शनीय है। हाथ कमाता है—उस कमाई को मुँह खाता है—मुँह पेट में पहुँचाता है—पेट पचाकर रक्त बनाता है—रक्त हृदय के अधिकार में पहुँचता है और वहाँ से सारे शरीर में पहुँचता है। छोटी-बड़ी नलिकाएँ इस वितरण की समर्थक और सहायक बनकर रहती हैं। सामर्थ्य का अधिकाधिक उपयोग-उपभोग के लिए न्यूनतम से तुष्टि—यही है प्रत्येक छोटे-बड़े अवयव की नीति। यह घाटे का सौदा नहीं है। हाथ ने कमाकर शरीर पोषण के लिए अपना समय-उपार्जन समर्पित कर दिया, यह स्थूल

दृष्टि के लिए घाटे का, मूर्खता का काम था; पर वस्तुत: इसमें लाभ ही लाभ रहा। सुरक्षा की चिंता, अहंकार की उद्धतता, संग्रह की सड़न से बचत हो गई और उपार्जित अन्न-धन बहुमूल्य रक्त-मांस बनकर हाथ के लिए वापस आ गया। सूक्ष्मदर्शियों के लिए यह बुद्धिमत्ता का काम रहा। हाथ ने आदर्शवादिता का श्रेय प्राप्त किया और अन्यान्य अवयवों के सहयोग से रक्त का बहुमूल्य भंडार उपलब्ध कर लिया। यह ईश्वरीय रीति-नीति है। व्यक्ति और समाज के बीच वैसा ही सामंजस्य-सौमनस्य रहना चाहिए, जैसा कि शरीर को सुव्यवस्थित बनाए रहने के लिए ईश्वर ने अवयवों के बीच स्थापित किया है।

उपयोगी-आवश्यक का ग्रहण और अनुपयोगी-अनावश्यक का परित्याग शरीर के निर्वाहक्रम का अविच्छिन्न अंग है। भोजन मिलता है, उससे जो तत्त्व जितनी मात्रा में प्रयुक्त हो सकता है उतना ग्रहण कर लिया जाता है और शेष को मल रूप में बाहर हटा दिया जाता है। संग्रह की तनिक भी उपयोगिता नहीं। संग्रह बढ़ेगा तो मलावरोध उत्पन्न होगा और सड़न से अनेकानेक रोग उठ खड़े होंगे। मल विसर्जन की क्रिया देखते ही बनती है। विकृतियाँ जहाँ भी उत्पन्न हों, वहीं से उन्हें खदेड़ बाहर किया जाना चाहिए। शरीर में बड़े-बड़े नौ छिद्र हैं। वे सभी मल विसर्जन में निरत रहते हैं। त्वचा के असंख्य छिद्र पसीने के माध्यम से विकृतियों को बाहर खदेड़ते हैं। फेफड़े में जाने वाली हर साँस उत्पन्न विषों को समेटकर लाती है और उन्हें बुहारकर बाहर फेंकती है। जो श्रेष्ठ हों, उत्कृष्ट हों उन्हीं को हम संग्रह करें और शेष को उपेक्षा के गर्त में धकेलकर बाहर कर दें। इतना सहज शिक्षण ईश्वर की इस रीति-नीति को देखकर सीखा जा सकता है, जो शरीर सत्ता के अंतर्गत आजीवन काम करती रहती है।

जन्म से लेकर मरण पर्यंत शरीर का सारा ढाँचा श्रमशील रहता है। स्थिति बदल देना भर विश्राम है। हर अवयव अपनी नियत मर्यादा का पालन करता है और अपने जिम्मे का उत्तरदायित्व

निभाता है। कर्त्तव्यनिष्ठा, मर्यादाओं का पालन, उदार सहकारिता का निर्वाह, अविश्राम जैसी श्रमशीलता की रीति-नीति अपनाकर ही शरीर का स्वास्थ्य, मन का संतुलन और अंत:करण का चरित्र स्थिर रखा जा सकता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरों के बलिष्ठ रहने का यही उपाय है। ईश्वर का कर्तृत्व शरीर के क्रिया-कलाप के चल रहे विधि-विधान को देखकर समझा जा सकता है। अभक्ष्य पदार्थ खाने से उदरशूल, रेचक से दस्त, नशा पीने पर उन्माद, विष पीने से मृत्यु, असावधानी से चलने पर ठोकर जैसे घटनाक्रमों को देखकर कर्मफल का सिद्धांत समझा जा सकता है। अपने भीतर झाँककर यदि देखा जा सके तो जिनकी चर्चा की गई है, वे दो-चार प्रसंग ही नहीं, असंख्यों आधार ऐसे दिखाई पड़ेंगे, जो ईश्वर की रीति-नीति का दिग्दर्शन कराते हैं। चेतना सदा निराकार होती है, इसलिए उसे चर्मचक्षुओं से तो नहीं देखा जा सकता, पर ज्ञान नेत्रों से उसकी गतिविधियों का दर्शन किया जा सकता है। यही है ईश्वर का साक्षात्कार। इसका प्रतिफल यही होना चाहिए कि हमें अपनी व्यावहारिक रीति-नीति का निर्धारण उसी आधार पर करना चाहिए, जिसे ईश्वरीय सत्ता द्वारा अपनाया गया है। ईश्वर भक्ति का, उसकी उपासना-साधना का प्रयोजन यही है कि हम उसी राह पर चलें, जो उसने हमारी प्रत्यक्ष पाठ्य पुस्तक में लिख दी है।

आंतरिक क्षेत्र की तरह बाह्य जगत में भी ईश्वर सत्ता का दर्शन उसकी रीति-नीति के रूप में देखते हुए किया जा सकता है। समुद्र में जमा रहने पर जल खारा हो जाता है और निरुपयोगी बनता है। कुछ ही समय में खाद बन जाता है। आततायी आपस में ही लड़ते-मरते और समाप्त होते रहते हैं। अवांछनीयता अपनाने वाली असुरता सदा हारी और दैवी सत्ता ने अपना वर्चस्व घोर संघर्ष के बीच भी कायम रखा है। एक से एक बढ़कर अनाचारी आए और असीम घृणा एवं अनंत अशांति लेकर महाकाल की करालता में समा गए, पर बुद्ध और ईसा अभी भी जिंदा हैं। शिवि, दधीचि, हरिश्चंद्र, ध्रुव, प्रह्लाद की, सूर-कबीर की, मीरा-तुलसी की सत्ता अभी भी जीवित

है। कालजयी महामानवों को इतिहास के पृष्ठों पर से मिटाया न जा सकेगा, जब तक धरती और आसमान है, तब तक महामानवों की देवसत्ता और अमृतवाणी, अजर-अमर बनी रहेगी और उनके चरण-चिह्नों पर श्रद्धा के शतदल कमल मानवी आत्मा निरंतर अर्पित करती रहेगी।

उपभोगवादी संग्रही और आधिपत्य जताने वाले अतृप्ति और असंतोष का रोना रोते रहेंगे; पर जिन्हें सौंदर्य का बोध है, वे नीले आकाश के झिलमिलाते तारकों में रात भर, लहलहाती हरितिमा में दिनभर दिव्य सौंदर्य का अनुभव करते हुए हर घड़ी हर्षोल्लास में डूबे रहेंगे। चित्र-विचित्र प्राणियों के चलते-बोलते खिलौने कितने सुंदर हैं। भोला बचपन, इठलाता यौवन और परिपक्व वृद्धत्व कितना भावात्मक होता है, इसे किसी भी कलाकार की आँखें देखकर ठगी-सी रह जाती हैं। प्रकृति की छोटी-बड़ी हलचलों को यदि भाव भरी आँखों से देखा जा सके तो प्रतीत होगा कि इस सृष्टि के कण-कण से सौंदर्य बरसता है। पारस्परिक स्नेह-सहयोग का यहाँ कितना निर्मल प्रवाह बह रहा है। सत् की यह सत्ता चेतना के समुद्र में किस प्रकार क्रीड़ा-कल्लोल कर रही है, यह देखते ही बनता है। यहाँ सत्, चित् और आनंद के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। संघर्ष, पाप और संग्रह जहाँ भी होगा, वहीं विकृत बनेगा और संकट उत्पन्न करेगा। बादल जल लाते हैं, सूखे भूतल को सींचते हैं। उनका क्रिया-कलाप उन्हें ऊँचा चढ़ाता है, देवता बनाता है, आगमन पर सर्वत्र मोद मनाया जाता है। बरसने पर भी वे खाली नहीं होते। हर वर्ष उनका अस्तित्व यथावत् बना रहता है। बादलों का पानी जमीन को मिलता है, जमीन से नदियों में, नदियों से समुद्र में जा पहुँचता है। यह एक से दूसरे को देने की पद्धति ही सृष्टि को सुस्थिर और समुन्नत रखे हुए है। यदि रोक रखने की लोभ नीति अपनाई जाए तो बादल क्यों बरसेंगे? जमीन अपनी नमी नदियों को क्यों दे देगी? नदियाँ सारा पानी अपने में भरे रहेंगी। संग्रह वृत्ति के अपनाने पर कितना बड़ा प्रकृति संकट उठ खड़ा होगा, यह कल्पना करने मात्र से जी दहल जाता है। प्रकृति की हलचलों में ईश्वर के

कर्तृत्व को यदि झाँका जा सकेगा तो प्रभु दर्शन का प्रकाश हमें सहज ही मिल सकता है।

वनस्पति उगती हैं दूसरों के लिए, वृक्ष फलते हैं दूसरों के लिए, गाय दूध, भेड़ ऊन, मक्खियाँ मधु देती हैं, फूल खिलते और सुगंध बिखेरते हैं। झरने झरते हैं और नदियाँ बहती हैं, धरती अपने असंख्य अनुदानों से प्राणियों का पोषण करती है। पवन चलता है, सूरज उगता है, चंद्रमा चमकता है और तारे झिलमिलाते हैं। इन सबका अपना प्रत्यक्ष लाभ क्या है? ईश्वर ने स्वयं इस विशाल सृष्टि का उत्तरदायित्व क्यों सँभाला हुआ है? इन प्रश्नों का उत्तर यदि खोजने के लिए उतरा जाए तो सृष्टि का कण-कण उत्कृष्टता से ओत-प्रोत हो रहा है और उसी के आधार पर इस विश्व का सूत्र-संचालन हो रहा है, यही उत्तर मिलेगा। अवांछनीयताएँ भी इस संसार में उत्पन्न होती हैं, पर वे पनपने नहीं पातीं, अपनी मौत मरती है और श्रेष्ठता की सघनता में उनका अस्तित्व टिक नहीं पाता। अँधेरा आता तो है, पर प्रकाश के सम्मुख टिक नहीं पाता। प्राणियों द्वारा त्यागा दुर्गंधित मल-अनाचार की भी यहाँ सत्ता है, पर वह है वहीं जहाँ ईश्वरीय सत्ता की न्यूनता है। संसार में कष्ट, शोक, संताप, विद्वेष और विघटन की असुरता भी मिल सकती है, पर वह कृति नहीं विकृति है। कृति और विकृति का संघर्ष भी उस परम पुरुष की एक स्फुरणा है, जिसके सहारे असत्य पर सत् की, मरण पर जीवन की और अंधकार पर प्रकाश की विजय की प्रत्यक्ष अनुभूति मिल सकती है।

ईश्वर का दर्शन, ईश्वर का अनुग्रह जीवन का लक्ष्य है। यह चर्म चक्षुओं से संभव नहीं। चमड़े के बने नेत्र तो केवल जड़ पदार्थों को देख सकते हैं, चेतना तो इंद्रियातीत है, उसकी अनुभूति ज्ञान- चक्षुओं से, विवेक दृष्टि से हो सकती है। अंतरंग को खोजने और बहिरंग को निहारने से हमें ईश्वर की सत्ता का दर्शन हो सकता है। परमाणु के घटक अंततः विद्युत प्रवाह के स्फुलिंग मात्र हैं। पदार्थ की मूल इकाई रासायनिक नहीं, विद्युतीय है। शक्ति

ही दृश्य का रूप धारण करती है। यह समूचा पिंड और ब्रह्मांड ब्राह्मी सत्ता का कलेवर है। यहाँ सर्वत्र ब्रह्म-ही-ब्रह्म ज्योतिर्मय है। माया के आवरण ने उसके दर्शन-आनंद में व्यवधान उत्पन्न किया है। उपासना और साधना की छेनी-हथोड़े से उसी अवरोध को नष्ट करने की, हटाने की प्रक्रिया पूर्ण की जाती है। यदि इस तथ्य को समझा जा सके तो ईश्वर दर्शन की प्यास को सहज ही बुझा सकते हैं। ईश्वर को जीवन का सहचर बना लेने उसकी प्रकृति और प्रेरणा को हृदयंगम कर लेने पर लेने पर जो असीम आनंद मिलता है, शक्तियों का अजस्र स्रोत हाथ लगता है, स्तर में देवत्व परिलक्षित होता है, वही है जीवन का चरम लक्ष्य और यही है पुरुषार्थ का महानतम प्रतिफल।

ईश्वर की कर्मफल व्यवस्था

ईश्वरीय सत्ता का मानवी चेतना पर अंकुश रखा जा सके तो इस बहुमूल्य मनुष्य जन्म को सच्चे अर्थों में सार्थक बनाने का अवसर मिल सकता है। यों शरीर यंत्र और मानसिक तंत्र दोनों ही ईश्वर विनिर्मित हैं। वही उनकी मूल गतिविधियों का संचालन करता है। हम अपने आप तो मिट्टी का खिलौना भर बना सकते हैं। जीवंत प्राणियों का जन्म प्राणियों के प्रयत्न और शरीर से होता है, पर कोई नहीं जानता कि इस काया का निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है। प्रयोगशालाओं में मनुष्यकृत रासायनिक-यांत्रिक प्राणी उत्पन्न नहीं किए जा सके। रक्त, मांस, अस्थि जैसे पदार्थ यदि कोई बना सका होता तो रक्तदान या अंगदान की आवश्यकता क्यों पड़ती ? आँखों जैसी दृष्टि और कानों जैसी श्रवण शक्ति वाले यंत्र यदि बनाए जा सके होते तो कितना अच्छा होता। मस्तिष्क की संरचना देखकर तो उसके सृजेता की सूझ-बूझ, कारीगरी और सूक्ष्मता पर चकित रह जाना पड़ता है। इंद्रियों की संवेदना और सक्रियता कितनी अद्‌भुत है, जिसकी तुलना मानवकृत प्रयासों में कहीं भी नहीं देखी जा सकती। अनवरत चलने वाला रक्त संचार, निमेष, उन्मेष, आकुंचन, प्रकुंचन, श्वास-प्रश्वास जैसी हलचलों को देख कर इस यंत्र का अनोखापन देखते-देखते तृप्ति नहीं होती। मन की विचार शक्ति की उपयोगिता और गरिमा का तो कहना ही क्या ? निर्जीव जड़ पदार्थों से बनी सृष्टि को इस मन ने कितनी सुंदर, सुखद और संवेदनशील बना दिया है। यदि मन न होता तो गुल्म-पादपों की तरह उगते बढ़ते जरूर पर अनुभूति के हाथ सरसता का कोई आनंद ले सकना संभव न रहा होता।

हम न तो शरीर यंत्र बना सकते हैं और न मनः तंत्र। यह ईश्वर की अतीव मूल्यवान कलाकृतियाँ हैं, जिन्हें सृजेता ने अपनी समस्त कुशलता का समावेश करके बड़ी आशा और भावना के साथ बनाया है। इसके संचालन का उत्तरदायित्व मनुष्य को सौंपा गया है और अपेक्षा की गई है कि वह उसका सदुपयोग

करके स्वयं लाभान्वित होगा और सृष्टि की सुव्यवस्था में सहायक सिद्ध होगा। निर्माण ईश्वर के हाथ, संचालन मनुष्य के हाथ; इस प्रकार की साझेदारी इस कारखाने के हाथ जुड़ी हुई है। ईश्वर ने अपना कार्य पूरा कर दिया, अब मनुष्य की बारी है कि वह सुसंचालन करते हुए अपनी प्रामाणिकता और कुशलता का प्रमाण प्रस्तुत करे।

परीक्षा से ही किसी की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। प्रतियोगिताओं में भाग लेकर ही विजेता अपना वर्चस्व सिद्ध करते हैं। बहुमूल जीवन तंत्र का संचालन कुशलतापूर्वक किया गया या उसे मूर्खता अपनाकर नष्ट-भ्रष्ट, अस्त-व्यस्त कर दिया गया। यही परीक्षा-काल जीवन अवधि के रूप में सामने प्रस्तुत है। उत्तीर्ण छात्रों को प्रमाण पत्र मिलते हैं और प्रतियोगिता में खरे सिद्ध होने वालों को गौरवशाली पद एवं उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं। जीवन संपदा का उपयोग किस प्रकार किया गया है। यही वह परख है जिसमें मनुष्य की कुशलता एवं प्रामाणिकता परखी जा रही है। यदि हम खरे सिद्ध होते हैं तो अन्य बढ़े-चढ़े बहुमूल्य उपहारों एवं उत्तरदायित्वों को प्राप्त कर सकने की अपेक्षा कर सकते हैं।

शरीर हम बना तो नहीं सकते, पर उसकी क्रियाशक्ति का इच्छानुसार उपयोग कर सकते हैं। विचारशक्ति, इच्छाशक्ति जैसी चेतनाओं का निर्माण हम नहीं कर सकते। यदि कर सके होते, तो पालतू पशुओं को अपने जैसे बना लेते और पागलों को बुद्धिमान कर देते। इतने पर भी अपना अधिकार हर किसी को प्राप्त है कि वह अपनी मानसिक क्षमता का कुछ भी, कैसा भी उपयोग करें। उपयोग की छूट जो मिली है, पर एक अधिकार ईश्वर के हाथ में सुरक्षित है कि कर्तृत्व के अनुरूप दंड और पुरस्कार देने की व्यवस्था अपने हाथ में रखे। हम इच्छानुसार भले और बुरे कर्म करने में पूर्णतः स्वतंत्र हैं, पर उसके परिणामस्वरूप जो सुख और दुःख मिलते हैं, उनसे बच नहीं सकते। आमतौर से यही चूक होती रहती है। इसी चौराहे पर लोग भटक जाते हैं और प्रलोभनों से प्रेरित होकर उस राह पर चल पड़ते हैं, जो आकर्षक तो लगती है, पर अंततः ले

पहुँचते हैं कँटीली झाड़ियों से भरे जंगल में, चिपकन और सड़न भरे दल-दल में। शरीर और मन का कुछ भी उपयोग कर सकने में हम स्वतंत्र हैं। यह एक लक्ष्य है। हम चाहें तो आत्महत्या तक कर सकते हैं। चाहें तो आत्मसाधना में निरत होकर कुछ ही समय में देवत्व की साधना में लग सकते हैं। दोनों में से किसी भी मार्ग पर चलने की छूट है, पर यहाँ एक भयंकर भ्रांति भी अपना ली जाती है कि कर्मफल से बचे रहने की छूट भी हम प्राप्त कर सकते हैं। ऐसा नहीं हो सकता। जमालगोटा खाया जा सकता है, पर उसके फलस्वरूप दस्त होने वाली बात रोकी नहीं जा सकती। विष पीने की हर किसी को स्वतंत्रता है, पर उसके फलस्वरूप मरण से बच सकना संभव नहीं। नशा पीना अपने हाथ में है, पर उन्माद से बचाव कैसे हो सकता है? हम में से अधिकांश की मान्यता यही बनी होती है कि दुष्कर्म करते हुए भी उसके दंड से बचे रह सकते हैं। समाज के तिरस्कार और शासकीय दंड से बच निकलने में अपनी चतुरता के आधार पर सफल हो सकते हैं। इसी मान्यता के कारण पाप कर्म होते हैं और लोग उस राह पर चलते हैं, जिसमें पग-पग पर काँटे और कंकड़ बिछे हैं।

नास्तिकता की परिभाषा कर्मफल की निश्चितता से इनकारी के रूप में की जा सकती है। नास्तिकता की शास्त्रकारों ने कटु भर्त्सना की है। इसमें ईश्वर के सृजेता और संचालक होने की बात को मानना न मानना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना इस सृष्टि में कर्मफल से बच निकलने की बात सोचना। इसमें इतना भर हो सकता है कि कोई अति धूर्तता बरतने पर सामाजिक तिरस्कार और शासकीय दंड से बच जाए, पर ईश्वरीय व्यवस्था से चल रहे कर्म विपाक से कोई नहीं बच सकता। जो यह सोचता है कि चतुरता इस क्षेत्र में भी काम दे सकती है, वह ईश्वरीय न्याय और शासन से इनकार करता है। यही है वह बिंदु जहाँ नास्तिकता पनपती है और व्यक्ति तथा समाज का भारी अहित होता है।

ईश्वर का, ब्रह्म का सृजेता होना असंदिग्ध है। यदि संयोग से प्राणी और पदार्थ बनते हैं तो ईश्वरीय व्यवस्था क्रम का

व्यतिरेक करके मानवी कुशलता के सहारे किसी अन्य प्रकार के प्राणियों और पदार्थों का नवनिर्माण किया जाना चाहिए। ऐसा कर सकना मनुष्य के लिए संभव नहीं है। वह चल रही प्रकृति-प्रक्रिया की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करके उस व्यवस्था का लाभ भर उठा सकता है। नया परमाणु, नया तत्त्व, नया जीवाणु मनुष्य की सारी कुशलता मिल कर भी नहीं बना सकती। अस्तु, ईश्वर का, सृजेता, स्रष्टा, ब्रह्म का होना स्वयं सिद्ध है। इस क्षेत्र में ईश्वर के न मानने का दुराग्रह कहीं आड़े नहीं आता और सृष्टिकर्ता प्रकृति है अथवा पुरुष इस विवाद से कुछ बनता नहीं। जब हम नए सूर्य, चंद्र, तारागण, समुद्र, पर्वत, वृक्ष, प्राणी आदि नहीं बना सकते, सृष्टि में चल रही हलचलों से भिन्न प्रकार की परिपाटी खड़ी नहीं कर सकते, तो ईश्वर को सृष्टिकर्ता एवं ब्रह्मा मानने की बात स्वीकार करने न करने से किसी का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। कोई सूर्य के अस्तित्व से इनकार करता रहे, तो इससे उसे ही विक्षिप्त, दुराग्रही आदि माना जाएगा। सूर्य पर अथवा उससे लाभान्वित होने वाली सृष्टि पर इस इनकारी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

भगवान का दूसरा स्वरूप है—पोषणकर्ता, विकासवान, अग्रगामी विष्णु। यह सत्ता भी सर्वत्र काम करती हुई देखी जा सकती है। परमाणु परिवार से लेकर सौरमंडल तक सर्वत्र अग्रगामी सक्रियता काम कर रही है। प्राणि जगत में शैशव, यौवन, वृद्धत्व और परिवर्तन का क्रम यथावत चल रहा है। अमीबा से बढ़कर मनुष्य बनने तक की, आदिम काल से लेकर आज के सभ्य युग की गवेषणा करने पर प्रगति चक्र के गतिशील होने की बात स्पष्ट है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के उपरांत मनुष्य जन्म पाने की पौराणिक मान्यता की भी विवेकयुक्त संगति बैठती है। यह ब्रह्माण्ड गोल है। अणु की सत्ता भी गोल है, इसलिए आगे-ही-आगे चलते रहने पर गोलाई के धरातल पर भ्रमण करने वाले को अंततः वहीं आ पहुँचना पड़ता है, जहाँ से वह चला था। चक्र गति की व्यापकता सर्वमान्य है। इसे दूसरे शब्दों में अग्रगमन कह सकते हैं।

हर पदार्थ को कहीं-न-कहीं से पोषण मिलता है; अन्यथा गतिशीलता में खरच होने वाली शक्ति की क्षतिपूर्ति कैसे होगी ? हम अन्न, जल और वायु से आहार प्राप्त करते हैं। वृक्षों को जड़ों से और पत्रों के माध्यम से खुराक मिलती है। धरती को आकाश से पोषण मिलता है और आकाश को धरती से। खाद से खेत की भूख बुझती है और उसके उत्पादन को खाकर प्राणियों की मल विसर्जन क्रिया से उस खाद की पुन: पूर्ति होती है। यह पोषण चक्र असंदिग्ध है। विष्णु का कर्तृत्व प्रत्यक्ष है। इससे जो इनकार करे वह अन्न, जल और वायु के बिना जीवित रहकर दिखाए। बिना ईंधन और ऊर्जा का साधन जुटाए, मशीन चलाए। बिना खाद-पानी के पौधे उगाए। भगवान के विष्णुत्व से इनकारी या स्वीकृति भी कुछ महत्त्व नहीं रखती। जो प्रत्यक्ष है, उसे अस्वीकार करना अपनी ही मूर्खता का परिचय देना है। गड़बड़ तब मचती है जब भगवान के शिव स्वरूप से इनकार किया जाता है। शिव को नियामक कहा गया है। वह स्वच्छंद को सीमित करता है और नियंत्रण का अंकुश लगाए रहता है। यदि ऐसा न हो तो स्वेच्छाचारी परमाणु एक-दूसरे से टकराकर भयंकर विस्फोट खड़े करते। ग्रह-नक्षत्र आए दिन आपस में टकराया करते। बकरी के पेट में बंदर होते और चने के पौधों में चावल उग पड़ते। सूर्य की जब मरजी होती निकलता और जब मौज आती चादर तानकर सो जाता। उस दशा में जो अव्यवस्था उत्पन्न होती, उससे दृश्यमान सृष्टि का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता। इस सृष्टिक्रम में सन्निहित मर्यादा और नियंत्रण की व्यवस्था कूट-कूटकर भरी देखकर हम चेतन ब्रह्म की शिव शक्ति का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं। पर इसी क्रम को जब मानवी कर्म-व्यवस्था में से काट देने, हटा देने का दुस्साहस किया जाता है, तब उसे अनास्था या नास्तिकता कहते हैं। जो है, उसे नहीं है, कहा जाय, माना जाए तो उससे गतिविधियों में अवांछनीय व्यतिरेक उत्पन्न होगा। इसका परिणाम दुर्भाग्यपूर्ण ही हो सकता है। नास्तिकता से उत्पन्न होने वाले विग्रहों को ध्यान में रखते हुए उससे बचने के लिए ही नास्तिकता को अवांछनीय ठहराया गया है और उसकी कटु भर्त्सना की गई है।

एक शब्द में नास्तिकता का अर्थ कर्मफल की इनकारी कहा जा सकता है। यह भ्रांति पनपती इसलिए है कि मनुष्य की विवेकशीलता और उत्कृष्टता को चरितार्थ होने का अवसर देने के लिए इतनी गुंजाइश छोड़ी गई है कि कर्मों का स्तर निर्धारित करने में मनुष्य अपने स्तर का परिचय दे सके। यदि इतनी भी छूट न मिली होती तो हम यंत्रवत बन जाते। जिस प्रकार साँस लेने और पलक झपकने का क्रम चलता है, उसी प्रकार कर्म करने की इच्छा और प्रक्रिया भी ईश्वर ने अपने हाथ में ले रखी होती तो फिर हर कोई एक ही प्रकार के कर्म करते रहने के लिए विवश होता। उससे जीवंत प्राणी भी मशीन जैसे बन जाते; उनमें जो विचित्रता और विविधता पाई जाती है, उसके दर्शन भी न होते। तब कोई न ऊँचा उठने का श्रेय प्राप्त करता और न पतन के कारण किसी की भर्त्सना होती। ईश्वर ने अपने ज्येष्ठ पुत्र पर उतना अंकुश लगाना उचित नहीं समझा और उसे स्वेच्छापूर्वक कर्म करने की पूरी-पूरी छूट प्रदान कर दी। यह उचित भी था और प्रत्यक्ष भी है। हम कुछ भी भला-बुरा कर सकने की अपनी स्वतंत्रता से परिचित हैं और उसका उपयोग भी करते हैं कठिनाई तब उत्पन्न होती हैं, जब कर्मफल पाने या न पाने की छूट भी पाने की उच्छृंखलता अपनाई जाती है। इसी मर्यादा व्यतिरेक का नाम नास्तिकता है। निंदा उसी की होती है।

मनुष्य की स्वतंत्र विवेकशीलता को परखने के लिए, तत्काल कर्मफल न मिलने की ढील दी गई है और परखा गया है कि देखें यह सृष्टि का मुकुट मणि प्राणी अपनी गरिमा, शालीनता और मर्यादा का स्वेच्छापूर्वक पालन कर सकता है या नहीं? इसी परख के लिए तत्काल कर्मफल न मिलने की ढील-पोल चलती है। देखा जाता है कि नशा पीने से उन्माद, रेचक खाने से दस्त व विषपान से मरण और आग छूने से जलने की तरह तत्काल कर्मफल नहीं मिलते। उनकी प्रतिक्रिया समाज-तिरस्कार और राजदंड के रूप में तो मिलती रहती है, पर जो चतुरतापूर्वक उस पकड़ से बच जाते हैं, वे तत्काल ईश्वर दंड नहीं पाते। प्रतिफल में प्राय: देर लग जाती है। इसी प्रसंग

में यह समझ लिया जाता है कि चतुरता सफल हो गई। मानवी न्याय- व्यवस्था को चकमा देने की तरह ईश्वरीय विधान को झुठलाना भी संभव हो गया। इस भ्रांति के कारण ही मनुष्य दुष्कर्म करने का दुस्साहस करते हैं और सत्कर्मों के सत्परिणाम तत्काल सामने न आने के कारण निराश होकर बैठ जाते हैं। इसी दुस्साहस एवं नैराश्य को प्रकारांतर से नास्तिकता कहा जाता है।

झूठ बोलने से मुँह में छाले पड़ जाने, चोरी करने वालों के हाथ में दरद उठ पड़ने, कुमार्गगामियों को लकवा मार जाने, अचिंत्य चिंतन से सिर दरद होने, कुदृष्टि वालों पर अंधता छा जाने जैसी तत्काल कर्मफल की व्यवस्था रही होती तो अपनी दुनिया में कोई भी कुकर्म करने का दुस्साहस न करता। आग पकड़ने, बिजली छूने और विष पीने की गलती कोई इसलिए नहीं करता कि उनके परिणाम तत्काल सामने आ खड़े होते हैं। सत्कर्म करने के प्रतिफल यदि तुरंत मिला करते तो हर व्यक्ति की रुचि उसी मार्ग पर होती। इंद्रियों की ललक-लिप्सा अपनाने के लिए हर व्यक्ति इसीलिए आतुर दिखाई पड़ता है कि उस उपभोग में तत्काल रसास्वादन मिलता है। चोरी, बेईमानी की नीति इसलिए अपनाई जाती है कि उनसे अर्थलाभ तुरंत होता है। इसी प्रकार यदि सत्कर्म से सत्परिणाम तुरंत मिलते तो हर व्यक्ति अपनी सहज बुद्धि से उन्हें ही इंद्रिय भोगों की तरह अपनाते हुए दृष्टिगोचर होता, पर वैसी व्यवस्था इस संसार में है नहीं। दुष्कर्मों के दुष्परिणाम और सत्कर्मों के पुण्यफल प्रायः देर से मिलते हैं। इसलिए अधीर होकर मनुष्य उस व्यवस्था को ही अमान्य ठहराने पर उतारू हो जाता है। इसी अधीरता को नास्तिकता कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में इसे अदूरदर्शिता कहना भी उचित होगा।

बीज को वृक्ष बनने में देर लगती है। खेत बोते ही किसान फसल कब काटता है? विद्यालय में भरती होते ही स्नातक कौन बनता है? व्यायामशाला में प्रवेश करते ही पहलवान बन सकना कहाँ संभव होता है? नवजात शिशु को प्रौढ़ बनने में समय लगता है। क्रिया और प्रतिक्रिया के बीच जो अंतर रहता है, उसकी धैर्य

और विश्वास के साथ प्रतीक्षा करने वालों को ही दूरदर्शी कहा जाता है। वे ही कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं और दूरगामी योजना बना सकते हैं। हथेली पर सरसों जमाने और बालू के महल बनाने के लिए आतुर लोगों को उतावले और उपहासास्पद कहा जाता है। ऐसी बाल-बुद्धि यदि कर्मफल के संबंध में बरती जाए तो उसे नास्तिकता कहा जाएगा।

अपने संसार की सबसे बड़ी भूल-भुलैया यही है कि राजदंड की हलकी-सी पकड़ से बच जाने वालों को यह भ्रम हो जाता है कि ईश्वरीय व्यवस्था में भी ऐसी ही ढील-पोल है और यदि कोई सुव्यवस्थित विधान है भी तो उसे चापलूसी, भेंट-उपहार जैसे हथकंडों के सहारे झुठलाया जा सकता है। अमुक पूजा विधानों के सहारे दुष्कर्मों का प्रतिफल समाप्त हो जाने की मान्यता ऐसे ही हथकंडेबाजों ने गढ़ ली है और सोच लिया है कि गंगा स्नान, देव-दर्शन, पूजा-प्रसाद जैसे सस्ते उपचारों के सहारे पापदंड से छुटकारा मिल सकता है। ईश्वरीय अनुग्रह प्राप्त करने के लिए जीवन-शोधन एवं परमार्थ प्रयास जैसे कष्ट साध्य कदम उठाने की जरूरत नहीं है। अमुक विधि-विधान से की गई छोटी-सी पूजा-पत्री से ईश्वर व देवताओं को वशवर्ती बनाया जा सकता है और उनसे उचित-अनुचित कुछ भी करा लेने का उल्लू सीधा हो सकता है। आज आस्तिकता के नाम पर यही भ्रम जंजाल सर्वव्यापी हो रहा है। पूजा-पाठ के छोटे विधि-विधान भी बड़े धर्मानुष्ठान प्रायः इसी दृष्टि से किए जाते हैं। कैसी विचित्र विडंबना है कि आस्तिकता की आड़ में नास्तिकता ने अपना डेरा जमा लिया है और कर्मफल के सिद्धांत का झुठलाना ही पूजा का माहात्म्य बन गया है। यदि यह मान्यता सच है भी तो इसकी प्रतिक्रिया सर्वनाशी होगी। फिर किसी को पापदंड से डरना न पड़ेगा। फिर कोई सत्कर्म करने में समय और शक्ति नष्ट न करेगा। जब सस्ती पूजा-पत्री से ही पाप से डरने और पुण्य करने की आवश्यकता पूरी हो जाती है, तब फिर किसी को क्या पड़ी है, जो सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने के लिए साधन जुटाए और दुष्प्रवृत्तियों से मिलने वाले

लाभों को छोड़ने की बात सोचे ? जो मान्यताएँ कर्मफल सिद्धांत को झुठलाती हैं, वे नास्तिकता के अग्रदूत हैं, भले ही उनका नाम पूजा-पाठ, धर्मानुष्ठान या और कुछ भी नाम देकर प्रतिष्ठा के सिंहासन पर बैठाया जाता रहे। दुर्भाग्यवश आज प्रच्छन्न नास्तिकता ही आस्तिकता का मुखौटा पहनकर जनमानस को भ्रमित करने पर उतारू हो रही दृष्टिगोचर होती है।

व्यक्तित्व का स्तर सुसंस्कृत बना रहे और समाज का ढाँचा सुव्यवस्थित बना रहे, यह उभयपक्षीय श्रेय-साधन मात्र वास्तविकता की मान्यता अपनाने से ही संभव हो सकता है। ईश्वर का अस्तित्व मानना उस स्तर पर नितांत आवश्यक है कि वह कर्मफल की व्यवस्था का सुनिश्चित सूत्रसंचालक है। उसकी इस व्यवस्था में देर की गुंजाइश तो है, पर अंधेर की संभावना तनिक भी नहीं है। बीज बोने और फल तोड़ने के बीच समय का व्यवधान तो है, पर फिर भी अमान्य नहीं ठहराया जाना चाहिए। जो अमान्य ठहराएगा उसे नास्तिक कहा जाएगा। ऐसे अधीर लोग तो कभी उद्यान सजाने, विलंबसाध्य किंतु अत्यंत महान कार्यों को हाथ ही नहीं लगाएँगे। इस आधार पर तो नशेबाजी जैसी धीमी आत्महत्या से बचने की बात भी नहीं सोची जा सकेगी। प्रत्यक्ष लाभ की उतावली में ही तो वे अवांछनीय कार्य किए जाते हैं, जिनके कारण भविष्य अंधकारमय बनता है और वातावरण दुष्प्रवृत्तियों की घुटन से भरता है। यही है अनास्था की दुखद प्रतिक्रिया जिसके कारण उसे निंदनीय और विघातक ठहराया जाता है।

मनुष्य की पतनोन्मुख चतुरता सर्वविदित है। लाखों क्षुद्र योनियों में भ्रमण करते-करते उसकी चेतना पर क्षुद्रता के कुसंस्कारों की गहरी परतें जम गई हैं। पानी ढुलककर नीचे की ओर बहता है। मनुष्य को अवसर मिले तो वह पशु-प्रवृत्तियों की ओर ही बढ़ेगा। चतुरता उसका साथ देगी और वह सामाजिक एवं राजनीतिक प्रतिबंधों को तोड़ते हुए भी अपने को सुरक्षित रख सकने में सफलता प्राप्त कर लेगा। मदोन्मत्त हाथी कुछ भी कर गुजरता है। फसल को रौंद डालना, पेड़-पौधों को उखाड़ फेंकना और प्राणियों को पछाड़ देना

उसके लिए खेल है। इसी प्रकार कर्मफल से निर्भय होकर मनुष्य भी उद्दंडता पर उतारू होता है और नैतिक एवं सामाजिक मर्यादाओं को कुचलता-रौंदता चला जाता है। इन पशु-प्रवृत्तियों पर अंकुश ईश्वर की सुदृढ़ और सुनिश्चित कर्म-व्यवस्था पर विश्वास उत्पन्न करने वाली आस्तिकता की आस्था पर ही संभव हो सकता है।

आस्तिकता का निष्कर्ष है कि मनुष्य ईश्वर को कर्मफल व्यवस्था के अप्रत्यक्ष रहते हुए भी उसे प्रत्यक्ष की तरह अनुभव करे। ईथर तत्त्व आकाश में भरा है, उसे खुली इंद्रियों से अनुभव नहीं किया जा सकता है। उसे बुद्धि की सूक्ष्मता से ही जाना जा सकता है। ईश्वर के अस्तित्व को किसी प्रयोगशाला में सिद्ध नहीं किया जा सकता, तो भी उसकी सृष्टि-व्यवस्था में संतुलन और सामंजस्य देखकर किसी सृजनकर्ता और नियामक सत्ता को मान्यता देनी पड़ती है। बिना बनाए कपड़ा, बर्तन, मकान, पुस्तक आदि कुछ भी नहीं बनता। जड़ पदार्थों का क्रमबद्ध संचालन किसी चेतना की प्रेरणा से ही हो सकता है। मशीनें बहुत शक्तिशाली और उपयोगी होती है, पर वे अपने आप नहीं चलती। रेल, मोटर, वायुयान, जलयान यदि सभी यंत्र यहाँ तक कि स्वसंचालित होने पर भी किसी मनुष्य की इच्छा एवं चेष्टा से ही चलते हैं। शरीर यंत्र भी तभी चलता है, जब उसमें जीव रहता है और उसका संकल्प काम करता है। फिर इतने बड़े विश्व ब्रह्मांड की सुव्यवस्था किसी कर्ता एवं नियामक के बिना बन और चल नहीं सकती। यही ईश्वर है। उसे जानते तो बहुत हैं, पर मानता कोई-कोई ही है। मानने का अर्थ है उसके अनुशासन को स्वीकार करना।

बिजली बड़ी समर्थ और उपयोगी भी है। पर उससे लाभ उठाने के लिए तद्विषयक विधि-विधान और अनुशासन का पालन आवश्यक है। सही उपयोग करके बत्ती, पंखा, हीटर, कूलर, रेफ्रीजरेटर आदि छोटे उपयोगी और विशालकाय यंत्रों के कल कारखाने चल सकते हैं और तरह-तरह के लाभ उठाए जा सकते हैं, पर यदि अनुचित रीति से छेड़छाड़ की जाए और खुले तार पकड़ लिए जाएँ, तो उससे प्राण संकट उत्पन्न हो जाने का खतरा है। ईश्वर की

विधि-व्यवस्था को समझा जाए और अपने दृष्टिकोण, चिंतन एवं क्रिया-कलाप को सही रखा जाए तो परमपिता के अजस्र अनुदानों का अधिकाधिक लाभ उठाया जा सकता है। उद्धत आचरण करने पर ईश्वरीय रोष का भागी बनना पड़ेगा और आधि दैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक प्रताड़नाएँ सहने के लिए विवश होना पड़ेगा। माता का प्यार सर्वविदित है, पर उद्दंडता बरतने पर उसे भी लाल-पीली आँखें निकालते, कान ऐंठते और चपत लगाते देखा जाता है। राजसत्ता का उद्देश्य सबकी सुख-सुविधा बढ़ाना और सुरक्षा का प्रबंध करना है। उसकी मूल प्रवृत्ति रचनात्मक है। शिक्षा, चिकित्सा, यातायात, संचार, उद्योग आदि के अभिवर्द्धन में ही उसकी अधिकांश शक्तियाँ नियोजित रहती हैं, किंतु उद्दंडता बरतने वालों के साथ कठोरता बरतने का, निषेधात्मक कार्य भी उसी को करना पड़ता है। ईश्वर के प्यार-दुलार का लाभ हम पग-पग पर प्राप्त कर सकते हैं, किंतु यह भी नितांत सत्य है कि मर्यादाएँ तोड़ने पर उतारू लोग उसकी पकड़ और प्रताड़ना से बच नहीं सकते।

स्थूल दृष्टि से देखने पर तत्काल कर्मफल न मिलने के कारण यह भ्रम होता है कि उत्पादन का कोई क्रम भले ही हो, नियंत्रण की व्यवस्था यहाँ नहीं है। ऐसे ही अंधेरगर्दी मची हुई है। पाप कर्म का दंड और पुण्य कर्म का पुरस्कार संदिग्ध है। इसी भ्रांति से नास्तिकता का जन्म होता है। आस्तिकता का उद्देश्य मनुष्य की चिंतन की गहराई में उतरना और यह समझना है कि देर से कर्मफल मिलने की व्यवस्था देखकर अधीर होने और अनुचित पर उतारू होने की आवश्यकता नहीं है। गंभीर बना जाए और देखा जाए कि अवांछनीयता की प्रतिक्रिया तीव्र न सही, मंद गति से होने की व्यवस्था किस प्रकार चल रही है?

अपना अंत:करण, 'समाज का प्रचलन', राजकीय कानून जिन अनैतिक आचरणों का निषेध करता है, उन्हें ही अपनाने पर अन्य सूत्रों की दंड-व्यवस्था तो पीछे लागू होगी, पहले अपना ही अंतरात्मा विद्रोह खड़ा कर देता है। अंतर्द्वंद्व उठना अनिवार्य है। क्रूर कर्म करने वाले प्राय: नशा पीकर या कृत्रिम आवेश उत्पन्न करके

ही आत्मविद्रोह को शिथिल कर पाते हैं अन्यथा कई बार तो हाथ काँपने, पैर लड़खड़ाने और दिल धड़कने की घबराहट में वे कार्य बन ही नहीं पड़ते और उलटे पैर लौटना पड़ता है। नौसिखियों पर तो प्रायः यही बीतती है और वे अनेक बार परिस्थिति की विषमता में नहीं, मनःस्थिति की विषमता में ही घबराकर वापस लौट आते हैं। इस प्रकार की सफलताएँ ईश्वरीय विद्रोह की विजय और अनास्था की पराजय कही जा सकती है। आत्मा की पुकार को निरंतर दबाते चलने पर जब दुष्टता चरम सीमा पर पहुँच जाती है, तभी क्रूर कर्म को सरलतापूर्वक कर सकने का अभ्यास बनता है अन्यथा कोई भीतर-ही-भीतर नोंचता-काटता रहता है। रुकने और लौटने के लिए कहता रहता है। इस उपदेष्टा को आत्मा की पुकार और परमात्मा की ज्योति कह सकते हैं। इसे धूमिल किया जा सकता है, पर सर्वथा बुझा देना किसी के भी वश की बात नहीं है।

मनुष्य की सबसे बड़ी संपत्ति उसका मनोबल है। इसी के सहारे वह पतन को रोकने और उत्थान के क्रम को बढ़ाने में समर्थ होता है। कुकर्म उद्धत तो हो उठता है। आतंक फैलाने और ध्वंस करने में आवेशग्रस्त उन्मादियों की तरह एक सीमा तक सफल भी हो जाता है, पर उसके लिए व्यक्तित्व को कुछ महत्त्वपूर्ण बना सकना संभव नहीं रहता। सृजन की क्षमता ही किसी को सफल, संपन्न एवं सुविकसित बनाती है। इसके लिए प्रखर मनोबल चाहिए। कुकर्मी का मनोबल निरंतर गिरता चला जाता है। इस दुर्बलता के कारण वह अपनी आँखों में गिरता है, साथ ही हर कोई उसे घृणा की दृष्टि से देखता है। धनहीन की उपेक्षा होती है और क्षीण मनोबल वाले पर तिरस्कार बरसता है। उसका सच्चा मित्र एक भी नहीं रहता। स्वार्थवश जो मित्रता का ढोंग बनाते थे, वे भी कुसमय आने पर पल्ला झाड़कर दूर जा खड़े होते हैं। पाप की प्रतिक्रिया घृणा के रूप में होकर ही रहती है। कुकर्मी के मित्र मुँह से समर्थन भले ही करें, पर भीतर-ही-भीतर तिरस्कार भरे रहते हैं। जब अशक्ति एवं विपत्तिग्रस्तता आती है, तो वे तथाकथित मित्र उचित अवसर पाकर अपनी दबी हुई घृणा को उभारते हैं और असहयोग ही नहीं उलटे

प्रहार भी करते हैं। चोर, डाकुओं के वर्ग में आज के मित्र कल शत्रु बनते रहते हैं। मुखबिरी करने और पकड़वाने में प्राय: उनके साथियों का ही हाथ रहता है। गुंडे आपस में ही कटते-मरते हैं।

जिसे किसी का प्यार नहीं मिल सके, जिसके लिए किसी के अंत:करण में श्रद्धा नहीं जग सके, जिसका कोई सच्चा सहयोगी न हो, वह बाहर से कितना ही ठाठ-बाट बना ले परंतु भीतर से अशांत और अतृप्त ही बना रहेगा। इस विक्षोभ की जलन से उत्पन्न उद्विग्नता की अनुभूति हलकी करने के लिए ही प्राय: ऐसे लोग नशेबाजी के अभ्यस्त बनते हैं। इतना तो सुनिश्चित है कि उद्धत मनुष्य कोई महत्त्वपूर्ण सृजनात्मक कार्य करने में सफल नहीं हो सकते। ध्वंस में किसी की गरिमा नहीं। एक छोटा बच्चा भी दियासलाई की तीली लेकर किसी बड़े कारखाने को भस्म करने की भूमिका बना सकता है। गरिमा की परीक्षा तो सृजन कार्यों से होती है। कारखाना खड़ा करने में किसी की क्षमता आँकी जाएगी। जला देने का कार्य तो कोई बीमार और पागल भी कर सकता है।

कुकर्मी में ध्वंस क्षमता तो एक सीमा तक पाई जाती है, पर वह भी निर्विरोध नहीं रहती। समाज और शासन उस पर अंकुश लगाते हैं। स्वजन-संबंधियों तक में भरी रहने वाली घृणा और अनवरत बनी रहने वाली आत्मप्रताड़ना ऐसे लोगों को सदा ही विक्षुब्ध बनाए रहती है। यदि गंभीरतापूर्वक देखा जाए तो घुन की तरह व्यक्तित्व को खोखला करती चलने वाली यह पाप प्रतिक्रिया कम विघातक नहीं है। तीव्र गति से न सही मंद गति से ही सही ईश्वरीय दंड-व्यवस्था का वह चाबुक प्रत्येक कुकर्मी पर बरसता देखा जा सकता है। पेड़ को कुल्हाड़ी से काटने की प्रत्यक्ष क्रिया दीखती है और उस घटना का प्रत्यक्ष चित्र आँख के सामने आता है। पेड़ को खाद-पानी न देकर सुखा दिया जाए तो लोगों को इसमें कोई अनहोनी या काटने जैसी विद्रूप घटना प्रतीत न होगी, पर परिणाम की दृष्टि से दोनों ही स्थितियाँ पेड़ के लिए समान रूप से घातक हैं। राजदंड मिले अथवा आत्मदंड, तलवार से काटा जाए या साँस बंद करके हत्या की जाए, इससे दृश्य का अंतर हो सकता है, पर परिणाम तो एक ही हुआ।

आत्म प्रताड़ना से पीड़ित व्यक्ति जीवन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों से प्राय: सर्वथा ही वंचित रह जाता है। गुण-कर्म-स्वभाव की दृष्टि से जो व्यक्ति ओछे हैं, वे सदा ओछे ही बने रहेंगे।

यह मनोविज्ञान सम्मत तथ्य है कि अवांछनीयता अपनाने के कारण उत्पन्न हुए अंतर्द्वंद्व के कारण अचेतन मन में कितनी ही विघातक ग्रंथियाँ बनती हैं और उनके कारण अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोग उठ खड़े होते हैं। आधि-व्याधियों से घिरे रहने वाले प्राय: वे ही बहुसंख्यक होते हैं, जिन्होंने सरल नहीं जटिल जीवन जिया; सरल अर्थात सीधा नैतिक, सौम्य, जटिल अर्थात् कुटिल अनैतिक एवं उद्धत। दूसरे शब्दों में धर्म को सरल और अधर्म को जटिल कह सकते हैं। पाप में उद्विग्नता की जलन और पुण्य में संतोष की शांति है। कोई समय था जब रोगों का कारण वात, पित्त, कफ को; आठी, बादी, खाकी को, विषाणु को, रासायनिक पदार्थों की कमी-बेशी को माना जाता था और उसी आधार पर निदान-उपचार का क्रम चला करता था। अब नवीनतम वैज्ञानिक शोधों ने सिद्ध किया है कि जड़ शरीर के कण-कण पर मस्तिष्कीय चेतना का आधिपत्य होने के कारण उसी की भली-बुरी स्थिति, स्वस्थता और अस्वस्थता के रूप में परिलक्षित होती है। पागल निर्द्वंद्व रहते हैं। अस्तु, आहार-विहार की अस्त-व्यस्तता रहने पर भी वे मस्त और नीरोग देखे गए हैं। हँसोड़ व्यक्ति प्राय: निरोग रहते हैं, इसके विपरीत घुटने और कुढ़ने वाले व्यक्ति अनेक रोगों के शिकार रहते पाए जाते हैं। नवीनतम मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष यह है कि शारीरिक स्वास्थ्य रूपी वृक्ष की जड़ें मानसिक स्वास्थ्य रूपी जमीन में गहरी घुसी होती हैं। खुराक से रक्त-मांस बन सकता है, पर आरोग्य की आधारशिला मानसिक स्तर पर जमी रहती है और उसी केंद्र से वास्तविक पोषण मिलता है। निर्द्वंद्व वनवासियों के सुदृढ़ शरीर और एकांत वन-पर्वतों में रहने वाले संत-महात्माओं का दीर्घ जीवन इस बात का प्रमाण है कि घटिया कहे जाने वाले आहार-विहार के रहते हुए भी चिरस्थायी आरोग्य प्राप्त कर सकना किस प्रकार संभव होता है? इसके विपरीत जो घुटते-चलते रहते हैं, वे किसी प्रकार

चिंता और खीज की आग में तिल-तिल करके अपने को जलाते-घुलाते रहते हैं और रुग्ण रहकर अकाल मृत्यु के शिकार होते हैं। ऐसे लोग बढ़िया आहार-विहार उपलब्ध करने पर भी उसका कोई लाभ नहीं उठा पाते।

कहना न होगा कि मानसिक संतुलन-सौमनस्य, संतोष एवं उल्लास बनाए रहने में कोई कृत्रिम तरकीब काम नहीं दे सकती। दूसरों को झुठलाया जा सकता है, पर अपने आपे के साथ चालबाजी नहीं हो सकती। उत्कृष्ट चिंतन और आदर्श कर्तृत्व अपनाए बिना किसी की अंतरात्मा आनंद और उल्लास की अनुभूति नहीं कर सकती, यह वरदान मात्र आस्तिकता की देवी के दरबार से ही मिलता है। ईश्वर विश्वास जीभ से कहने भर का अथवा मस्तिष्क की जानकारी तक सीमित हो तो बात दूसरी है अन्यथा यदि उसे अंत:करण में प्रवेश पाने और आस्था रूप में जड़ जमाने का अवसर मिल गया, तब तो उसकी सुनिश्चित प्रतिक्रिया अध्यात्मवादी आदर्शवादिता अपनाने के रूप में ही दृष्टिगोचर होगी। ईश्वर को हाजिर-नाजिर मानने वाला कर्मफल के विधान पर विश्वास करेगा और अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारने की मूर्खता न करेगा। आस्तिकता और सज्जनता दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जो अपने को आस्तिक तो कहता है, पर कुमार्ग पर चलता है, उसे विसंगतियों का केंद्र ही कहना चाहिए। पूर्व को मुँह और पश्चिम को पैर करके चलने वाले को विक्षिप्त कहा जाए या और कुछ! आस्तिकता के साथ अनीति को जोड़े रहना असंभव है। जो दोनों को मिलाकर चल रहा है, उसे आस्तिकों की गणना में नहीं ही गिना जा सकता, भले ही वह पूजा-पाठ के ढोंग-ढकोसले कितने ही रचता रहता है।

देर-सबेर से क्या कुछ बनता-बिगड़ता है। आज का लिया कर्ज कमाई नहीं है, कल ब्याजसमेत देना पड़ता है। आज का दूध कल दही बनता है। आज का पौधा कल वृक्ष बनता है। आज प्रश्नपत्र हल करने का प्रमाण पत्र कल मिलता है। इस विलंब से विचलित होने और आस्था खोने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा अमर है, उसे नित नए जन्म लेने पड़ते हैं। एक जन्म का प्रतिफल

दूसरे में मिल सकता है। आज चोरी करने पर आज ही गिरफ्तारी नहीं होती या सजा नहीं मिलती तो उससे किसी को यह नहीं समझ लेना चाहिए कि चोरी अपराध नहीं है और उसका दंड नहीं मिलेगा। कितने ही जन्मजात अविकसित एवं अपंग होते हैं। कितने ही अप्रत्याशित दुर्घटना और विपत्तियों से आच्छादित होते हैं। अस्पतालों, पागलखानों, जेलखानों, मरघटों में जाकर यह जाना जा सकता है कि तत्काल का न सही कोई पूर्वकृत कदम भी मनुष्य के आड़े आ सकता है। कुकर्मियों को निम्न योनियों में जन्मने और नरक भुगतने की जो शास्त्र मान्यता है, वे झुठलाने योग्य नहीं। कुमार्गगामी की अंत:चेतना पर जमे हुए कुसंस्कार मनोविज्ञान शास्त्र के अनुसार जब शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ खड़ी कर सकते हैं तो अवांछनीयता की गहरी परतों द्वारा अगले जन्म में कष्टकारक परिस्थितियों के घेरे में जकड़े जाने की बात भी अमान्य नहीं ठहराई जा सकती।

कितने ही बालक जन्म से ही असाधारण मेधावी, सद्गुणी, प्रतिभावान और दूरदर्शी होते हैं। इनका चिंतन और कर्तृत्व एक निश्चित दिशा में चलता है, फलत: वे स्वल्प काल में ही असाधारण प्रगति के उच्च शिखर तक जा पहुँचते हैं। कितने ही बच्चे ऐसी परिथितियों में जन्मते हैं, जिन्हें प्रगति की विशिष्ट सुविधाएँ उपलब्ध रहती हैं अथवा उत्साहवर्द्धक सहयोग मिलते हैं। इन्हें पूर्वकृत पुण्यों का प्रतिफल कहा जा सकता है। कई बालकों में दुर्बुद्धि और कुप्रवृत्तियों का प्रचंड उभार होता है, वे न वातावरण से प्रभावित होते हैं न व्यक्तियों से। उनकी उद्धत प्रकृति उन्हें पतनोन्मुख बनाती चलती है। फलत: वे दुर्भाग्यपूर्ण विपत्तियों के शिकार बनते हैं। ऐसे लोगों में उनके प्रारब्ध का उदय हुआ देखा जा सकता है। मनुष्य-मनुष्य के बीच पाई जाने वाली भिन्नता को पूर्वकृत का प्रतिफल मानने के अतिरिक्त और कोई समाधान नहीं मिलता। यदि यह भिन्नता ईश्वर कृत हो तो ईश्वर समदर्शी कैसे रहा? यदि प्रकृति कृत है तो प्रकृति की सर्वव्यापी नियमनिष्ठा का व्यतिरेक कैसे हुआ? एक जाति के प्राणी प्राय: एक ही आकृति-प्रकृति के होते हैं। उनकी मन:स्थिति एवं परिस्थिति लगभग एक ही होती है, अंतर रहता भी है तो नगण्य

ही, पर मनुष्य-मनुष्य के बीच जो आकाश-पाताल जितना अंतर पाया जाता है, उसे न तो ईश्वरकृत मानते बनता है और न प्रकृति की अव्यवस्था कहा जा सकता है। इसे पूर्वकृत कर्मों की प्रतिक्रिया कहने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। सन्मार्गगामियों को सत्परिणाम देने और कुमार्गगामियों को दुष्परिणाम भुगतने को बाध्य करने वाली सर्वव्यापी व्यवस्था को ईश्वर माना जाता है। ईश्वर विश्वास की प्रतिक्रिया आत्महित को सोचते हुए सन्मार्ग पर चलने की तत्परता के रूप में ही परलक्षित हो सकती है। आस्तिक और नास्तिक का वर्गीकरण पूजा करने न करने के आधार पर नहीं वरन इस कसौटी पर कसना चाहिए कि कर्मफल की व्यवस्था पर सुनिश्चित विश्वास किया गया या नहीं। यदि किया गया होगा तो आग को छूने की गलती न करने की तरह पाप वृत्तियों को अपनाने से भी परहेज किया जा रहा होगा। सच्ची आस्तिकता की सही कसौटी यही हो सकती है।

ईश्वर ने मनुष्य जीवन जैसा सृष्टि का अनुपम, अद्‌भुत और अद्वितीय साधन हमें इसलिए दिया है कि इसकी गरिमा समझें और अवसर का श्रेष्ठतम सदुपयोग करके अपनी दूरदर्शिता एवं प्रामाणिकता सिद्ध करें। पशु-प्रवृत्तियों को काटने-उखाड़ने में प्रवृत्त होकर यदि उसमें देव-प्रवृत्तियों का उद्यान लगा सकें, तो इसे सराहनीय दूरदर्शिता कहा जाएगा। पद के अनुरूप ही वेश भूषा धारण करनी पड़ती है। वैसे ही आचार-व्यवहार एवं शिष्टाचार का निर्वाह करना पड़ता है। बड़े अधिकारी इस संबंध में आवश्यक सतर्कता बरतते हैं। मनुष्य भगवान का ज्येष्ठ पुत्र एवं राजकुमार है। उसकी समस्त गतिविधियाँ ऐसी होनी चाहिए, जिससे मानवीय गरिमा पर आँच न आए, उसकी धवलता पर दाग-धब्बा न लगे। अपूर्णता से पीछा छुड़ाकर पूर्णता प्राप्त करने का अवसर केवल मनुष्य योनि में ही है। यही वह द्वार है, जिसमें प्रवेश करके स्वर्ग एवं मुक्ति जैसी दिव्य उपलब्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। सामान्य जीवात्मा से ऊँचा उठकर महानात्मा, देवात्मा और परमात्मा बनने का एकमात्र यही अवसर है। ईश्वर पर आस्था रखने वाला न केवल परमात्मा पर

वरन् उसके दिए दैव उपहार की गरिमा पर भी आस्था रखता है और जीवन के सदुपयोग की उच्चस्तरीय व्यवस्था बनाता है। कहना न होगा कि उत्कृष्ट चिंतन और आदर्श कर्तृत्व अपनाने से ही यह प्रयोजन पूरा होता है। व्यक्तित्व की उत्कृष्टता से ही ईश्वर भक्ति की झाँकी की जा सकती है।

साधन संपन्न मनुष्य जीवन मौज-मजा करने के लिए, ठाठ-बाट रोपने और लोभ-मोह की अहंता प्रदर्शित करने के लिए नहीं मिला है। ऐसा करने से ईश्वर पक्षपाती नहीं कहा जा सकता है। इससे तो उसका समदर्शी गौरव ही नष्ट हो जाता है। अन्य प्राणियों को जो नहीं दिया गया है, वह मनुष्य को मिला, तो इसका कोई विशेष प्रयोजन होना ही चाहिए। समझा जाना चाहिए कि यह विशुद्ध अमानत है, जिसे इस सृष्टि को सुसंस्कृत-समुचित बनाने के लिए ही नियोजित किया जाना चाहिए। कहा जा चुका है कि खजांची, मिनिस्टर, अफसर, स्टोरकीपर आदि के हाथों में कई तरह के साधन रहते हैं और वे उन्हें निजी लाभ के लिए नहीं वरन निर्दिष्ट उद्देश्य के लिए ही प्रयुक्त करते हैं। आस्तिकता की आस्था निरंतर यही स्मरण दिलाती है कि इस धरोहर को लोकमंगल के लिए प्रयुक्त किया जाना है। व्यक्तिगत आवश्यकताएँ न्यूनतम रखी जाएँ। सादगी और मितव्ययता का जीवन जिया जाए। न ठाठ-बाट का अपव्यय बढ़ाया जाए और न संतान संख्या बढ़ाने जैसा अनावश्यक भार सिर पर लादा जाए। व्यक्तिवादी संकीर्ण स्वार्थपरता से जो जितना छूट सके और ईश्वरीय प्रयोजनों में अपने को जितना निरत रख सके, वह उतना ही ईश्वर भक्त है। हनुमान को आदर्श ईश्वर भक्त माना गया है। वे अपने लिए नहीं भगवान के लिए जिए और अपने को भूले रहे और भगवान को याद रखे रहे। याद रखे रहने का तात्पर्य है, उसी प्रयोजन में निरत रहना। केवल स्मरण करते रहने से तो कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। ऐसे तो कितने ही तथाकथित भक्त लोग ईश्वर की कल्पना करते हुए चित्र-विचित्र उड़ानें उड़ते रहते हैं। सच्चा स्मरण तो लक्ष्य के साथ एकाकार होने में, अपने को इसी के साथ घुला देने से संपन्न एवं सार्थक होता है।

आस्तिकता का फलितार्थ है सर्वव्यापी परमेश्वर सत्ता का दर्शन। विराट ब्रह्म का दिव्य साक्षात्कार करने वाले को जड़-पदार्थों का सदुपयोग और चेतन प्राणियों का सद्भाव भरा सहयोग करने के अतिरिक्त और कोई रास्ता रहता ही नहीं। ईश्वरभक्त को अपना यही संसार विशालकाय शिवलिंग की तरह, सुविस्तृत शालिग्राम की तरह दीखता है। गोलाकार शिवलिंग ओर शालिग्राम की प्रतिमाएँ विराट ब्रह्म का स्मरण दिलाती हैं। भगवान कृष्ण ने अर्जुन को गीता सुनाते समय और माता यशोदा को मिट्टी खाने के अपराध में मुँह खोलकर दिखाते समय अपना यही विराट रूप दिखाया है। भगवान राम ने कौशल्या को पालने में झूलते समय और काकभुशंडि को उदर प्रदेश में प्रवेश करने का अवसर देकर इसी विराट की झाँकी कराई थी। तुलसीदास **'सियाराम मय सब जग जानी'** के रूप में इसी ब्रह्म का दर्शन करते थे। श्रुति ने **'ईशा वास्यमिदंश्वंसर्वं'** के रूप में ईश्वर को सर्वव्यापी रूप का दिग्दर्शन कराया है। आस्तिकता की प्रेरणा इस विराट विश्व को सींचने-सँजोने की, पूजा-आराधना में निरत रहने की दिशा में चल पड़ने के लिए प्रोत्साहन देती है।

आस्तिकता की मान्यता को सुस्थिर बनाने के लिए ही पूजा-उपासना के विभिन्न कर्मकांड बनाए गए हैं। हम मानवी आदर्शों से भटककर पशु-प्रवृत्तियों में लोट-पोट करते हैं, इसी अवांछनीय स्थिति से उबारने के लिए प्रार्थना की पुकार की जाती है। ईश्वर के साथ जीव की असीम दूरी को निकटता, घनिष्ठता में परिणत करने के लिए उपासना की जाती है। उसी की ईश्वरभक्ति सार्थक है, जो कर्मफल पर अटूट विश्वास करे और अपने जीवन को आदर्श बनाने की शपथ ग्रहण करे। आस्तिक वही है, जो चरित्रनिष्ठ रहता है और लोकमंगल के लिए बढ़-चढ़कर अनुदान प्रस्तुत करता है। ऐसी वास्तविक ईश्वरभक्ति ही अमृत, पारस और कल्पवृक्ष की तरह मनुष्य को सर्वसंपन्न बनाती है और उसी आधार पर जीव को ब्रह्म, नर को नारायण, पुरुष को पुरुषोत्तम, लघु को महान और दीन-दुर्बल को ऋद्धि-सिद्धि संपन्न बनाने का अवसर मिलता है।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा